नागपुर विश्वविद्यालय के बी. ए. और एम. ए. के पाठ्यक्रम में स्वीकृत

तत्त्व समुच्चय

[जैन तत्त्वज्ञान तथा आचार सम्बन्धी प्राचीन प्राकृत गाथाओं का संकलन]

★

सम्पादक

डा० हीरालाल जैन

एम. ए., एल-एल. बी., डी. लिट.

★

भारत जैन महामण्डल, वर्धा

नवम्बर १९५२

अपनी ओर से

'तत्व-समुच्चय' ग्रन्थ पाठकों के सन्मुख रखते हुए हमें हर्ष हो रहा है. जैन तत्त्वज्ञान और आचार की विशेषताओं को संक्षेप में और सरलभाषा में बतानेवाले ऐसे ग्रन्थ की कमी प्राय: अनुभव की जा रही थी. अपने अध्यापन में आने वाली कठिनाइयों के कारण तो डा० हीरालालजी ने इस कमी को काफी तीव्रता से अनुभव किया.

तत्व-समुच्चय में जैनधर्म के प्राचीन प्राकृत भाषा के ग्रंथों की गाथाओं का संकलन किया गया है. जैनधर्म का तत्त्वज्ञान पहले पहल प्राकृत भाषा में ही लिपिबद्ध किया गया था. गाथाओं का संकलन दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों से किया गया है और जहाँ कहीं मान्यता भेद का प्रसंग आया है वहाँ दोनों सम्प्रदायों की मान्यता का उल्लेख कर दिया है. प्राकृत भाषा न समझने वालों के लिए हिन्दी अनुवाद भी दे दिया है. बी. ए. और एम. ए. के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए शब्द-कोष, ग्रन्थ व ग्रंथकारों का ऐतिहासिक परिचय भी दिया गया है. प्रारम्भ में जैनधर्म के विकासक्रम और प्राकृत भाषा की महत्ता पर भी डा० साहब ने काफी प्रकाश डाला है. इस तरह यह ग्रंथ जिज्ञासुओं, विद्यार्थियों, स्वाध्यायियों आदि सब के उपयोग का बन पड़ा है. इस महत्वपूर्ण सेवा के लिए भारत जैन महामंडल डा० साहब का अत्यन्त ऋणी है.

अत्यन्त कार्यव्यस्त रहते हुए भी ग्रंथ को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए डा० साहब ने समय निकाल कर जो श्रम किया है वह तो कभी भुलाया ही नहीं जा सकता. प्रकाशन में जो अत्यधिक विलम्ब हुआ, उसका एक कारण यह भी रहा कि डा० साहब इसे सब दृष्टियों से उपयोगी बनाना चाहते थे. आपके सुप्रयत्न से यह ग्रंथ नागपुर विश्वविद्यालय में पाठ्य-ग्रंथ स्वीकार कर लिया गया है.

यह ग्रंथ राजेन्द्र-स्मृति ग्रंथ-माला की ओर से प्रकाशित हो रहा है. यह ग्रंथ-माला श्री रांका परिवार ने श्री रिषभदासजी रांका के ८ वर्षीय पुत्र स्व० राजेन्द्र की स्मृति में स्थापित की है.

हमारा विचार पहले इसका मूल्य दो रुपए रखने का था, पर उपयोगी सामग्री से पृष्ठ संख्या बढ़ जाने के कारण तीन रुपया करना पड़ा है.

आशा है इस उपयोगी ग्रंथ का स्वागत ेगा.

वर्धा
१० नवम्बर १९५२

—प्रकाशक

अनुक्रम

प्रारम्भिक

ग्रन्थ

परिशिष्ट

प्राक्कथन

प्रस्तुत संकलन की प्रेरणा मुझे अपनी प्राकृत कक्षाओं को पढ़ाते समय मिली। प्राकृत साहित्य का बहु भाग जैनधर्म से सम्बंध रखता है, और बिना जैनधर्म के आचार व सिद्धान्त का विधिवत् ज्ञान हुए वह साहित्य अच्छी तरह समझ में नहीं आता, क्योंकि पद पद पर वह जैन पारिभाषिक शब्दों से भरा हुआ है। स्फुट रूप से प्रसंगोपयोगी बात को समझा देने पर भी वह विद्यार्थियों के हृदय पर स्थायी रूप से अंकित नहीं हो पाती, क्योंकि जब तक एक दार्शनिक बात उसकी पूरी सांगोपांग व्यवस्था में बैठाकर न बतलाई जाय तब तक न तो उसका यथार्थ ज्ञान हो पाता, और न स्मरण रह सकता। इसलिये यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि प्राकृत के कुछ ऐसे संकलन उपस्थित किये जांय जिन में विद्यार्थियों को प्राकृत भी पढ़ने पढ़ाने के लिये मिले और साथ-ही-साथ जैन धर्म का आवश्यक ज्ञान भी व्यवस्था से प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त उनके हाथ में ऐसी एक पुस्तक भी रहे जिसके आधार से वे किसी भी सैद्धान्तिक परिभाषा व व्यवस्था का प्रामाणिक उल्लेख कर सकें।

इस संकलन में सोलह पाठ हैं जिनमें जैनधर्म से सम्बन्ध रखने वाली प्राय: सभी नैतिक, आध्यात्मिक व दार्शनिक व्यवस्थाओं की रूपरेखा अति प्रामाणिक ग्रंथों पर से प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक पाठ के अन्त में ग्रंथों का नाम भी दे दिया गया है और प्रत्येक गाथा के संख्याक्रम के पश्चात् उसके मूल ग्रंथ का अध्याय और पद्य की संख्या भी दे दी गई है। इस से एक तो यदि पाठक चाहे तो उस गाथा के अर्थ का विस्तार व पूर्वापर प्रसंग मूल ग्रंथ में सुलभता से देख सकता है। और दूसरे वह इसका प्रामाणिक उल्लेख भी कर सकता है।

पाठों का क्रम भी ऐसा रखा गया है कि आरम्भ में वर्णनात्मक व आचार नीति आदि सम्बंधी पाठ हैं, और पश्चात् क्रम से सैद्धान्तिक तत्त्वविवेचन के पाठ आये हैं जिनके लिये विद्यार्थी की मानसिक भूमिका तैयार होती गई है।

समस्त पाठों में गाथाओं की कुल संख्या ६०० के लगभग है। यदि विद्यार्थी नित्य नियम से औसतन दो गाथाओं का अर्थ समझ ले व उन्हें पाठ भी कर ले तो, अनध्याय के लगभग दो मांह छोड़कर भी, वह एक वर्ष के भीतर ग्रंथ का पारायण कर सकता है। जहां विद्यार्थी पर अन्य विषयों का भी भार है, व सिद्धान्त-ग्रहण की पूरी योग्यता नहीं है, वहां पहले सात-आठ पाठ प्रथम वर्ष में व शेष द्वितीय वर्ष में पढ़े जा सकते हैं।

ग्रंथ के साथ सरल हिन्दी अनुवाद है और विशेष शब्दों का कोष भी है। इस कोष में शब्द वर्णानुक्रम से उनके संस्कृत रूपान्तर में रखे गये हैं, जिस से कहीं भी उल्लिखित शब्द का अर्थ सरलता से देखा जा सके। प्राय: चर्चा में तथा पठन पाठन में संस्कृत शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है। शब्द का प्राकृत रूप, जहां वह अधिक भिन्न है, कोष्टक में दे दिया गया है। पाठों में आये प्राकृत शब्दों का रूपान्तर भाषान्तर में आ ही गया है।

इस कोष के शब्दों को कार्डोंपर लिखने में मेरे प्रिय शिष्य जगदीश किलेदार एम. ए. ने मेरी सहायता की। और उनपर से प्रेसकापी तैयार करने में भारत जैन महामंडल के स्थायी कार्यकर्ता श्री जमनालालजी जैन की धर्मपत्नी सौ॰ विजयादेवी ने साहाय्य प्रदान किया है। इसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद तो क्या दूं; आशीर्वाद देता हूं कि वे अपने ज्ञान में खूब उन्नति करें।

इस ग्रंथ के तैयार करने की पूर्वोक्त प्रकार प्रेरणा मिलनेपर भी संभवत: पाठकों को उसके दर्शन इतने शीघ्र न हो पाते यदि भारत जैन महामंडल के अति निष्ठावान कार्याध्यक्ष व मेरे परम स्नेही श्री ऋषभदासजी रांका का उसके लिये जब से मैंने चर्चा की तभी से अति आग्रह न होता। इस सत्कार्य की प्रेरणा के लिए मैं उनका अनुग्रहीत हूं।

एक तो संकलन कार्य में स्खलन होना—न छोड़ने योग्य को छोड़ बैठना और छोड़ने योग्य को ले बैठना–बहुत संभव है। इस संबन्ध में मतभेद भी बहुत हो सकता है। दूसरे प्राकृत पाठ का मुद्रण व संशोधन भी बड़ा कठिन होता है। सिद्धान्त का अर्थ करने में भी जरा प्रमाद हुआ कि कुछ न कुछ भूलचूक हो ही जाती है। मुझे यह सब कार्य भी बड़ी व्यग्रता के काल में से कुछ क्षण निकाल निकाल कर करना पड़ा है। अतएव यदि कहीं कोई अशुद्धियां पाठकों की दृष्टि में आवें, या संकलन में हीनाधिकता जान पड़े तो सूचित करने की कृपा करें, ताकि आगे संशोधन किया जा सके।

यदि इस संकलन के द्वारा जैन धर्म के जिज्ञासुओं की कुछ तृप्ति हो सकी व विद्यार्थियों को प्राकृत एवं जैन साहित्य व सिद्धान्त में प्रवेश पाने में सुलभता प्राप्त हो सकी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

नागपुर महाविद्यालय,
नागपुर २६-१२-१९५१

—हीरालाल जैन

जैन धर्म, साहित्य और सिद्धान्त

मानवीय संस्कृति के विकास ने जिन संस्थाओं को जन्म दिया उनमें धर्म का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। चाहे जितने प्राचीन काल में हम जांय, मनुष्य के जीवन में कुछ न कुछ धार्मिक प्रवृत्तियां हमें दिखाई देती ही हैं। चाहे जिस देश-प्रदेश के इतिहास पर दृष्टि डालें, वहां धर्म का प्रभाव दिखाई दिये बिना नहीं रहेगा। किन्तु धर्म का स्वरूप कभी और कहीं भी सर्वथा एक रूप नहीं रहा। वह देश और काल के अनुसार सदैव बदलता रहा है। यदि संसार के सब धर्मों की संख्या लगाई जाय तो वे सैकड़ों ही नहीं, सहस्रों पाये जाते हैं। किन्तु जिन धर्मों के अनुयायिओं की संख्या करोड़ों पाई जाय ऐसे संसार में सुप्रसिद्ध और सुप्रचलित धर्म हैं ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध और हिन्दू।

वैदिक धर्म

भारत के प्राचीन और प्रमुख धर्म तीन हैं: ब्राह्मण, बौद्ध और जैन। ब्राह्मण धर्म को मुसलमानी काल मे हिन्दू धर्म भी कहने लगे हैं। देश में इस धर्म का प्रभाव गंभीर और व्यापक रहा है। इस धर्म के प्राचीनतम ग्रंथ चार वेद हैं: ऋग्, यजुः, साम और अथर्व। इनमें इन्द्र, वरुण, अग्नि, मित्र, उषः आदि अनेक देवी देवताओं की स्तुतियां की गई हैं जिनका यज्ञ आदि अवसरों पर गान किया जाता था। यज्ञ में या तो किसी पशु की बलि उस देवता को चढ़ाई जाती थी, या सोमरस निकालकर उसका पान किया जाता था। इस प्रकार देवताओं को प्रसन्न कर उनसे अपनी विजय, शत्रु का पराजय व नाश तथा धन-धान्य व पुत्र-पौत्रादि की वृद्धि की प्रार्थना की जाती थी। वेदों के आश्रित इसी क्रिया-काण्ड के कारण यह धर्म वैदिक भी कहलाया। जब चिन्तनशीलता अधिक बढ़ गई तब उपनिषद् ग्रंथों की रचना हुई जिनमें कर्मकाण्ड को महत्त्व न देकर प्रकृति और जीवन के मौलिक तत्त्व को समझने का प्रयत्न किया गया है। इस बौद्धिक प्रयत्नशीलता के फलस्वरूप छह दर्शनों की उत्पत्ति हुई—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त। ये ही वैदिक षड्दर्शन कहलाते हैं। इनमें वेदान्त का सब से अधिक प्रचार और प्रभाव बढ़ा। इस दर्शन के अनुसार जीवन और प्रकृति का आदि स्रोत एक ही तत्त्व है, और वह है ब्रह्म। यही ब्रह्म सृष्टि में माया रूपी शक्ति के कारण नाना प्रकार दिखाई देता है। जो इसके नाना रूपों को ही सत्य और तथ्य समझते हैं वे अज्ञानी हैं, और संसार के बन्धन मे फंसे हैं। किन्तु जो इन नाना रूपों को मिथ्या जान लेते हैं और उनके अटल तत्त्व एक ब्रह्म को पहिचान पाते हैं वे ही ज्ञानी और जीवनमुक्त हैं।

वैदिक धर्म में जीवन का विभाग और समाज-रचना का भी प्रयत्न किया गया है जो वर्णाश्रम—व्यवस्था कहलाती है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को

क्रमशः ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और सन्यास का पालन करना चाहिये। ये ही जीवन के चार आश्रम हैं, और इन्हीं के सुचारु रूपसे पालन करने में जीवन की सफलता है। मनुष्य-समाज गुण और कर्मों के अनुसार चार वर्णों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का कर्तव्य वेदाध्ययन और धर्मानुष्ठान है। क्षत्रिय का धर्म, देश और समाज की रक्षा करना है। वैश्य का कर्तव्य कृषि वाणिज्यादि द्वारा समाज को सुखी और धनसम्पन्न बनाना है। तथा शूद्र का कर्तव्य उक्त वर्णों की विधिवत् सेवा करना है। यह वर्णाश्रम धर्म मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिग्रंथो में विस्तार से वर्णित पाया जाता है।

वैदिक सम्प्रदाय का संस्कृत साहित्य बहुत विशाल है। रामायण और महाभारत इसकी बहुत प्राचीन और लोकप्रिय रचनायें हैं। कालिदासादि महाकवियों द्वारा रचे गये काव्यों और नाटकों का यहां प्रचुर भंडार है। अनेक पुराणों में इतिहासातीत काल से लगाकर राजाओं और महर्षियों की वंशावलियां पाई जाती हैं। किन्तु इस साहित्य के देवी देवता वेदों के देवताओं से कुछ भिन्न हैं। यहां विष्णु और शिव तथा काली और दुर्गा की पूजा का प्राधान्य है। यों तो हिन्दू धर्म के नाना सम्प्रदाय देशभर में फैले हुए हैं, तथापि स्थूल रूप से उत्तर भारत में वैष्णव सम्प्रदाय का, दक्षिण में शैव सम्प्रदाय का तथा पूर्व में बंगाल और उसके आसपास काली-पूजा का अधिक प्रचार है।

बौद्ध धर्म

प्राचीनतम साहित्य में एवं अशोक की प्रशस्तियों में हमें दो संस्कृतियों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण धर्म का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। श्रमण सम्प्रदाय के अनुयायी वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते थे। न वे यज्ञ के क्रियाकाण्ड को मानते थे, और न वर्णाश्रम व्यवस्था को उसी रूप में ग्रहण करते थे। श्रमण मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों में विशुद्धि पर जोर देते थे, इन्द्रिय-निग्रह और परिग्रह-त्याग को आत्मिक शुद्धि के लिये आवश्यक समझते थे, एवं अहिंसा को धर्म का अनिवार्य अंग मानते थे। इन मौलिक सिद्धान्तों के भीतर श्रमण की चर्या में भी नाना भेद थे जिनका प्रचार भारत के पूर्व भाग मगध और विहार के प्रदेशों में विशेष रूप से था। कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम बुद्ध पर इन्हीं श्रमण मान्यताओं का प्रभाव पड़ा और वे संसार से उदासीन होकर त्यागी हो गये। उन्होंने कठोर संयम का पालन किया, तपस्या की, और उपवास धारण किये, जिस से उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। एक लम्बे उपवास की दुर्बलता से मूर्छित होकर जब उनकी चेतना जागी तब वे विचार करने लगे कि क्या आत्मकल्याण के लिये यह सब कायक्लेश आवश्यक है? बस, इस प्रश्न का उन्हें जो उत्तर मिला वही उनका 'बोधि' या 'ज्ञान' था। उन्होंने देखा कि अपने शरीर को अनावश्यक क्लेश देना भी उतना ही बुरा है जितना दूसरों को क्लेश देना या इन्द्रिय-लोलुपता में आसक्त होना।

अतएव उन्होंने इन दोनों कोटियों—इन्द्रियलिप्सा और कायक्लेश—का परित्याग कर 'मध्यम पथ' का आविष्कार किया और वही बौद्ध धर्म कहलाया। महात्मा बुद्ध ने जो बनारस के समीप सारनाथ में अपना 'धर्मचक्र प्रवर्तन' किया उसका सार चार आर्यसत्यों और अष्टाङ्गिक मार्ग में अन्तर्निहित है। म. बुद्ध के चार आर्य सत्य हैं: दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा। अर्थात् जीवन दुःखमय है—जन्म, जरा, मरण, शोक, परिदेव, दौर्मनस्य, उपायास तथा इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग एवं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान ये पांच स्कंध सब दुक्खरूप है। इन समस्त सांसारिक दुखों का कारण है, और वह है हमारी तृष्णा—कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा। दुखों से मुक्ति पाने के लिये इसी तृष्णा का निरोध करना आवश्यक है, और यह कार्य सम्यग् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यग् व्यायाम, सम्यग् स्मृति और सम्यक् समाधि—इन आठ सम्यक्तियों द्वारा ही सम्पादन किया जा सकता है। अपने इस मुक्तिमार्ग के अनुपालन में महात्मा बुद्ध ने कोई वर्ण या जातिभेद नहीं माना। उनके उपदेश का जनता में खूब स्वागत हुआ, तथा उनके समय में ही राजाओं तथा धनी मानी लोगों ने भी उसे खूब अपनाया। बुद्धनिर्वाण के दो तीन शताब्दी पश्चात् मौर्य सम्राट-अशोक ने अपनी कलिंग-विजय की हिंसा के प्रायश्चित्त स्वरूप क्रमशः बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया और उसका खूब प्रचार भी किया। धीरे धीरे यह धर्म भारत की सीमाओं को पार कर लंका, श्याम, तिब्बत व चीन आदि देशों में भी फैल गया जहां कि वह आजतक सुप्रचलित है।

बौद्धधर्म के मुख्य ग्रंथ त्रिपिटक कहलाते हैं, क्योंकि अनुमानतः वे पहले अलग अलग तीन पिटारियों में रखे जाते थे। पहले विनय पिटक में बौद्ध साधुओं के पालने योग्य नियमों का संकलन किया गया है। दूसरे सुत्तपिटक में बुद्ध भगवान और उनके प्रमुख शिष्यों के उपदेशों व आख्यानों का संग्रह किया गया है जो दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसी पिटक के अन्तर्गत खुद्दकनिकाय में वे पांच सौ से अधिक जातक कथाएं पाई जाती हैं जो संसार के कथासाहित्य में अपनी प्राचीनता, नैतिकता, चातुरी आदि-गुणों के लिये सुप्रसिद्ध हैं। तीसरे अभिधम्म पिटक में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का संग्रह पाया जाता है। यह सब साहित्य पाली भाषा में है और उसका जो संस्करण हमें इस समय उपलब्ध है वह लंका द्वीप से आया है। यह बौद्धधर्म के 'हीनयान' सम्प्रदाय का साहित्य माना जाता है। 'महायान' सम्प्रदाय उत्तर में काश्मीर, तिब्बत तथा मध्यएशिया की ओर फैला और उसने अपना साहित्य संस्कृत में तैयार किया। किन्तु इस में पूरा त्रिपिटक नहीं मिलता। अनेक बौद्ध ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनके तिब्बती व चीनी अनुवाद मिलते हैं, किन्तु उनकी भारतीय मूल रचनाओं का

पता नहीं चलता। वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश जैसे सुविख्यात ग्रंथका भी उसके तिब्बतीय अनुवाद परसे उद्धार करना पड़ा है।

जैनधर्म के तीर्थंकर

बौद्धधर्म से भी अति प्राचीन एक श्रमण सम्प्रदाय जैनधर्म है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। भागवत पुराण में तो उन्हें स्वयंभू मनु की सन्तान की पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए माना गया है, और उनकी तपस्या तथा कैवल्य प्राप्ति का विस्तार से वर्णन किया गया है। जैन मान्यतानुसार ऋषभनाथ के पश्चात् तेईस तीर्थंकर और हुए जिन्होंने अपने अपने समय में जैनधर्म का उपदेश और प्रचार किया। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे। उन्होंने अपने विवाह के समय यादव वंशियों के भोजनार्थ संहार किये जानेवाले पशुसमूह को देखकर वैराग्य धारण किया और सुराष्ट्र देशके गिरनार पर्वतपर तपस्या की। यह पर्वत अभीतक उनके नाम से पूज्य माना जाता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म बनारस के राजवंश में हुआ था। उन्होंने जैनधर्म को इतना सुसंघटित बनाया कि आजतक वह प्रायः उसी रूपमें पाया जाता है। अधिकांश जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथ की ही पूजा होती है और सामान्यतः जैनी पार्श्वनाथ के ही उपासक माने जाते हैं। पार्श्वनाथ से अढाई सौ वर्ष पश्चात् अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए। इनका जन्म बिहार प्रदेश के कुण्डनपुर के राजा सिद्धार्थ के यहां रानी त्रिशला की कुक्षि से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ। यह दिन आज भी जैनियों द्वारा पवित्र माना जाता है, और उस दिन देशभर में 'महावीर जयन्ती' मनाई जाती है। महावीर ने अपने कुमार काल के तीस वर्ष राजभवन में सुख से शौर्य और विद्याध्ययन में व्यतीत कर तपस्या धारण कर ली। बारह वर्ष के कठोर तपश्चरण और आत्मचिन्तन द्वारा उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया, और फिर तीस वर्ष तक देश के विभिन्न भागों में परिभ्रमण करते हुए धर्म का प्रचार किया। इस प्रकार बहत्तर वर्ष की आयु पूर्ण कर कार्तिक कृष्णा १४ के दिन उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। इसी दिन निर्वाणोत्सव दीपावली के रूप में आजतक धूमधाम से मनाया जाता है। प्रचलित मान्यतानुसार भगवान महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व, शक संवत् से ६०५ वर्ष पूर्व, एवं ईस्वी संवत् से ५२७ वर्ष पूर्व हुआ। तदनुसार महावीर निर्वाण संवत् की स्थापना हुई जिसका इस समय २४७८ वां वर्ष प्रचलित है।

भगवान् महावीर की माता त्रिशला की छोटी बहिन चेलना का विवाह उस समय के चक्रवर्ती मगध-नरेश बिम्बसार उपनाम श्रेणिक से हुआ था। रानी चेलना के प्रयत्न से श्रेणिक महावीर के परम उपासक बन गये, और उन्हींके प्रश्नों के उत्तर में जैन शास्त्रों और पुराणों का बहुभाग प्रतिपादन किया गया माना जाता है।

जैनागम

भगवान् महावीर के उपदेशों का संग्रह उनके शिष्यों द्वारा बारह श्रुतांगों में किया गया जिनके परम्परागत नाम और विषय निम्न प्रकार हैं—

१- आचाराङ्ग में मुनियों के चारित्र संबंधी नियमों का वर्णन है।

२. सूत्रकृताङ्ग में मुनियों के आचरण संबंधी और भी विशेष आदेश पाये जाते हैं। इस में अनेक दूसरे दर्शनों का भी वर्णन है।

३. स्थानाङ्ग में तत्त्वों के भेद प्रभेदों का उनकी संख्या के क्रम से निरूपण है। जैसे चैतन्य की अपेक्षा जीव एक है। ज्ञान और दर्शन के भेद से वह दो प्रकार का है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से वह तीन प्रकार का है। देव, मनुष्यादि चार गतियों में परिभ्रमण करने की अपेक्षा वह चार प्रकार का है। इत्यादि।

४. समवायाङ्ग में तत्त्वों का निरूपण उनके समवाय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा समानता के अनुसार किया गया है। जैसे—द्रव्यसमवाय की अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश समान हैं। क्षेत्रसमवाय की अपेक्षा प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्तक नामक बिल, अढ़ाई द्वीप प्रमाण मनुष्यक्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नामक विमान और सिद्धक्षेत्र समान हैं। इत्यादि।

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तर क्रम से जीवादि पदार्थों का व्याख्यान पाया जाता है।

६. ज्ञातृधर्मकथा में धर्मोपदेश और बहुविध कथाएं वर्णित हैं।

७. उपासकाध्ययन में गृहस्थों के पालन करने योग्य धर्म का विधान है।

८. अन्तकृद्दशा में ऐसे दश मुनियों का चरित्र वर्णित है जिन्होंने अनेक उपसर्ग सहन करके संसार का अन्त किया और मोक्ष पाया।

९. अनुत्तरौपपातिक में ऐसे दश मुनियों का चरित्र वर्णित है जो घोर उपसर्ग सहन कर विजय आदि अनुत्तर विमानों में देव उत्पन्न हुए।

१०. प्रश्नव्याकरण में अपने धर्म की पुष्टि एवं परधर्म का खंडन करने वाले वर्णन व कथानक हैं।

११. विपाकसूत्र में पुण्य और पाप के फलों का वर्णन है।

१२. दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका, इस प्रकार पांच खंड थे। परिकर्म में चन्द्र, सूर्य, जम्बूद्वीप, द्वीपसागरों का विवरण तथा द्रव्यों का विशेष निरूपण किया गया था। सूत्र में प्राचीन काल में प्रचलित ३६३ मतों का विवेचन किया गया था। प्रथमानुयोग में राजाओं और ऋषियों के वंशानुक्रम का पुराण वर्णित था। पूर्वगत के भीतर इन चौदह पूर्व अर्थात् प्राचीन परम्परागत मतों व वादों का विवरण था—(१) आग्रायणी (२) उत्पाद

(३) वीर्यानुप्रवाद (४) अस्ति-नास्ति प्रवाद (५) ज्ञान प्रवाद (६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्मप्रवाद (९) प्रत्याख्यानवाद (१०) विद्यानुवाद (११) कल्याणवाद (१२) प्राणवाद (१३) क्रियाविशाल, और (१४) लोक-बिन्दु सार। चूलिका में जल, स्थल, माया, रूप और आकाश गत नाना मंत्रों तंत्रों का विवरण था।

यह द्वादशांग आगम श्रुतज्ञान के रूप में गुरुशिष्य परम्परा से प्रचलित हुआ। किन्तु उस प्रकार वह चिरकाल तक सुरक्षित न रह सका। महावीर भगवान् के निर्वाण से १६५ वर्ष पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु तक तो पूरा श्रुत-ज्ञान बना रहा, किन्तु उसके पश्चात् बारहवें अंग दृष्टिवाद केज्ञान का ह्रास हुआ और फिर उसी क्रम से शेष अंगों का भी ज्ञान व्युच्छिन्न और त्रुटित हो गया। यहां तक कि निर्वाण से ६८३ वर्ष पश्चात् कुछ थोड़े से आचार्यों को ही इस श्रुतांग का खण्डशः ज्ञान अवशेष रहा। इन खण्डशः श्रुतांग धारियों की परम्परा में आचार्य धरसेन हुए जिन्होंने सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में रहते हुए अपनी आयु के अन्त में वह ज्ञान आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को प्रदान किया। इन आचार्यों ने उसी श्रुतज्ञान को कर्मप्राभृत अपरनाम षट्खं-डागमसूत्र के रूप में भाषा-निबद्ध किया। यह ग्रंथ-रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण हुई थी। इसी कारण जैनी उस दिन अभी तक श्रुत पंचमी मनाते और श्रुत की पूजा करते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे श्रुतज्ञानी आचार्य गुणधर ने कषाय-प्राभृत ग्रंथ की रचना की। नवमीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम सूत्रों पर धवला नामक टीका लिखी और कषाय-प्राभृत पर वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन ने 'जयधवला' नामक टीका लिखी। ये टीकाएं 'मणिप्रवालन्याय' से अधिकांश प्राकृत में और कहीं कहीं संस्कृत में रची गई हैं। ये ही ग्रंथ दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में धवल सिद्धान्त और जयधवल सिद्धान्त के नाम से प्रख्यात हैं और सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं। षट्खंडागम का छठा खंड भूतबलि आचार्य कृत 'महाबन्ध' है और यही रचना महाधवल के नाम से विख्यात हैं। इन ग्रंथों—मूल व टीकाओं-की प्राकृत भाषा 'जैन शौरसेनी' कही जाती है।

यह है दिगम्बर परम्परा का संक्षिप्त विवरण। श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांग आगम का सर्वथा लोप नहीं हुआ। निर्वाण के पश्चात् अनेक बार आगम को सुव्यवस्थित करने के लिये मुनिसंघ की बैठकें हुई। अन्तिम बार निर्वाण से ९८० वर्ष पश्चात् विक्रम सं. ५१० में वलभी (गुजरात) में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में मुनिसंघ की बैठक हुई जिसमें संकलित ग्रंथों की नामावली देवर्धिगणि कृत नन्दीसूत्र में पाई जाती है। वर्तमान में उपलब्ध ४५ ग्रंथरूप आगम उससे भी अनेक बातों में भिन्न है। इनमें पूर्वोक्त प्रथम ग्यारह अंगों के अतिरिक्त १२ उपांग, १० प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र और २ चूलिका सूत्र हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—

१. ग्यारह अंग (ऊपर निर्दिष्ट)

२. बारह उपांग—(१) औपपातिक सूत्र (२) रायपसेणी (३) जीवाभिगम (४) पण्णवणा (५) सूर्यप्रज्ञप्ति (६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति (८) निरयावली (९) कल्पावतंसिका (१०) पुप्फिका (११) पुप्फ चूलिक (१२) वृष्णिदशा।

३. दश प्रकीर्णक—(१) चतुःशरण (२) आतुर प्रत्याख्यान (३) भक्त परिज्ञा (४) संस्तार (५) तन्दुल वैचारिक (६) चन्द्रकवेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान (१०) वीरस्तव।

४. छह छेदसूत्र—(१) निशीथ (२) महानिशीथ (३) व्यवहार (४) आचार दशा (५) कल्प (६) पंचकल्प (या जीतकल्प)

५. चार मूलसूत्र—(१) उत्तराध्ययन (२) आवश्यक (३) दशवैकालिक (४) पिंडनिर्युक्ति।

६. दो चूलिकासूत्र—(१) नन्दीसूत्र (२) अनुयोगद्वार।

इस आगम को दिगम्बर सम्प्रदाय प्रामाणिक नहीं मानता। ग्यारह अंग स्वयं उन्हीं में दिये हुए वर्णन के अनुसार विषय व विस्तार दोनों दृष्टियों से उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप में द्वादशांग श्रुत की प्रथम बार रचना हुई थी। विशेषतः ठाणांग, समवायांग और नन्दीसूत्र में पाये जाने वाले वर्णन वर्तमान आगम से व परस्पर भी एक रूप नहीं हैं। वर्गीकरण के विषय में भी मतभेद पाया जाता है, जैसे छेद सूत्रों में पंचकल्प के स्थान पर कहीं जीतकल्प का नाम भी पाया जाता है। इस प्रकार विकल्प से आये हुए ग्रंथों को सम्मिलित करने से कुल आगम ग्रंथों की संख्या ५० तक भी पहुंच जाती है। कितने ही ग्रंथों के कर्ताओं के नाम भी मिलते हैं। जैसे—चतुर्थ उपांग प्रज्ञापना के कर्ता श्यामाचार्य, जीतकल्प के कर्ता जिनभद्र, पंचम छेदसूत्र कल्प के कर्ता भद्रबाहु, तृतीय मूलसूत्र दशवैकालिक के कर्ता सेज्जंभव या स्वयंभव, एवं नन्दीसूत्र के कर्ता स्वयं देवर्धिगणी। भाषा व शैली की दृष्टि से भी ये रचनायें भिन्न भिन्न काल की सिद्ध होती हैं। जैसे, आचारांग विषय, भाषा व शैली आदि सभी दृष्टियों से अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन सिद्ध होता है। उत्तराध्ययन में भी अधिक प्राचीन रचनाओं का समावेश पाया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन आगम रचनाओं में प्राचीन अंश भी हैं, तथा उन में स्वयं देवर्धिगणी के समय तक की रचनायें भी समाविष्ट हैं।

आगमों की भाषा व अन्य प्राकृत

इन ग्रंथों की भाषा 'आर्ष' या 'अर्धमागधी' कहलाती है। आर्य परिवार की भारतीय भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा वेदों में पाई जाती है। वेदों की भाषा का संस्कार होकर संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ। और बोलचाल में प्रचलित लोकभाषा 'प्राकृत' कहलाई जिसके देशभेदानुसार अनेक प्रभेद हो गये। मगध देश में प्रचलित भाषा मागधी कहलाई। शूरसेन अर्थात मथुरा के आसपास के प्रदेश में प्रचलित प्राकृत का नाम पड़ा शौरसेनी। और महाराष्ट्र में प्रचलित

प्राकृत कहलाई महाराष्ट्री। इन भाषाओं में परस्पर उच्चारण आदि संबंधी केवल थोड़े से भेद थे, जैसा कि एक ही भाषा की भिन्न देशीय व भिन्न कालीन बोलियों में पाये जाते हैं। मगध और शूरसेन के सीमा प्रदेश में प्रचलित भाषा का नाम अर्धमागधी था, क्योंकि, जैसा कि सीमाप्रदेशों में हुआ करता है, उक्त भाषा में दोनों प्रदेशों की बोलियों की विशेषताओं का मिश्रण पाया जाता था। कहा जाता है कि महावीर भगवान् का उपदेश भी अर्धमागधी भाषा में होता था जिसे दोनों प्रदेशों के लोग भलीभांति समझ लेते थे। मागधी भाषा के विशेष तीन लक्षण थे—(१) 'र' के स्थान पर सर्वत्र 'ल' का उच्चारण। (२) श, ष और स के स्थान पर सर्वत्र 'श' का उच्चारण। (३) अकारान्त संज्ञाओं के कर्ताकारक एक वचन का प्रत्यय 'ए' जैसे संस्कृत का 'नरः' मागधी में होगा 'णले'। 'पुरुषः' का मागधी रूप होगा 'पुलिशे'। इत्यादि। शौरसेनी प्राकृत में 'र' का उच्चारण 'र' ही होता है। श, ष और स के स्थान पर सर्वत्र 'स' आता है, तथा कर्ताकारक एकवचन में 'ए' न होकर 'ओ' होता है। जैसे 'णरो' 'पुरिसो' आदि। इन लक्षणों में से आगमों की भाषा में शौरसेनी का 'स' और मागधी का 'ए' भी पाया जाता है और शौरसेनी का 'ओ' भी; तथा 'र' का 'ल' क्वचित् दृष्टिगोचर होता है।

क्रमशः कुछ आगमों पर 'निर्युक्ति' 'चूर्णि' 'टीका' व 'भाष्य' नामक विवरण ग्रंथ रचे गये जो भिन्न भिन्न समय के हैं और भाषा व साहित्य तथा इतिहास व संस्कृति की दृष्टि से रोचक और महत्वपूर्ण हैं। आगमों पर संस्कृत टीकाएं लगभग आठवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं पाई जाती। हरिभद्रसूरि की टीकाएं संस्कृत में सबसे प्राचीन मानी जाती हैं।

सैद्धान्तिक साहित्य

सिद्धान्त की दृष्टि से प्राकृत भाषा के प्रकाशित साहित्य में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भीतर विशेषतः जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य एवं चन्द्रर्षि महत्तर तथा अन्य आचार्यों कृत छह कर्मग्रंथ बड़ी महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। उसी प्रकार आचार की दृष्टि से मुनि आचार के लिये कल्पसूत्र, व श्रावकाचार के लिये हरिभद्रकृत श्रावक-प्रज्ञप्ति उल्लेखनीय है। दिगम्बर सम्प्रदाय में उपर्युक्त कर्मप्राभृत व कषायप्राभृत और उनकी टीकाओं के अतिरिक्त नेमिचन्द्र आचार्यकृत गोम्मटसार (जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड) लब्धिसार, क्षपणासार व द्रव्यसंग्रह ग्रंथ जैन सिद्धान्त का सुव्यवस्थित प्रतिपादन करने के लिये सुविख्यात हैं। उसी प्रकार त्रैलोक्य के स्वरूप का वर्णन यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ति व नेमिचन्द्र कृत त्रिलोकसार में परिपूर्णता से पाया जाता है। मुनि आचार के लिये शिवार्यकृत भगवती आराधना और वट्टकेर कृत मूलाचार, तथा श्रावकाचार के लिये वसुनन्दि कृत श्रावकाचार सुप्रसिद्ध हैं। जैन स्याद्वाद व नयवाद के लिये, देवसेनकृत नयचक्र उल्लेखनीय है। इन के अतिरिक्त कुन्दकुन्दाचार्य रचित समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, बारस अणुवेक्खा और अष्ट पाहुड ग्रंथ तथा स्वामी कार्तिकेय कृत अनुप्रेक्षा विशेषतः जैन अध्यात्म के प्रतिपादन के लिये सुप्रसिद्ध हैं। यह समस्त प्राकृत साहित्य प्रायः विक्रम की प्रथम सहस्राब्दि के भीतर का रचा हुआ है।

श्रावक और मुनि का आचार

धार्मिक सिद्धान्त के भीतर प्रायः आचार और दर्शन इन दो शास्त्रों का समावेश किया जाता है। जैन आचार की मूलभित्ति है 'अहिंसा'। इसी कारण यहां अहिंसा का अति सूक्ष्म विवेचन किया गया है। हिंसा केवल किसी जीव का घात करने या उसे चोट पहुंचाने से ही नहीं होती, किन्तु किसी प्रकार व किसी भी अल्पातिअल्प मात्रा में उसे हानि पहुंचाने या उसका विचार मात्र करने से भी होती है। यह अहिंसक भावना केवल मनुष्य के प्रति ही नहीं, किन्तु छोटे से छोटे जीव के प्रति भी रखने योग्य बतलाई गई है। मन से, वचन से व काय से कृत, कारित व अनुमोदित हिंसा पाप रूप है। जैन शास्त्रों में धार्मिक जीवन की यही एक सर्वोपरि कसौटी मानी गई है। सभ्य पुरुष वही है जिस के हृदय में प्राणि-मात्र के प्रति हिंसा का भाव न हो। यह तो है अहिंसा का निषेधात्मक रूप। उस का विधानात्मक स्वरूप पाया जाता है प्राणिमात्र के प्रति मैत्री व परोपकार भाव रखने में। 'परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्' व 'अहिंसा परमो धर्मः' जैन आचार के मूल मंत्र हैं।

इस अहिंसात्मक वृत्ति को जीवन में उतारने के लिये पांच व्रतों का विधान किया गया है—अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन और अपरिग्रह। यदि हम समाज के संघर्ष व सभ्य संसार के दण्ड-विधान का विश्लेषण करके देखें तो हम पायेंगे कि मनुष्य-कृत समस्त अपराधों का मूल या तो किसी जीव को चोट पहुंचाना है, या किसी दूसरे की वस्तु को छीन लेना, या किसी स्वार्थवश झूठ बोलना, या दुराचार करना अथवा अमर्यादित धन संचय करने की प्रवृत्ति में है। उपर्युक्त पांच व्रतों का प्रतिपादन इन्हीं समाजगत मूल दोषों को दृष्टि में रखकर किया गया है। गृहस्थ श्रावक इनका पालन स्थूल रूप से ही कर सकता है, इसलिये उक्त पांचों व्रतों का विधान श्रावकाचार में 'अणुव्रतों' के रूप में पाया जाता है। शेष गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों का उपदेश इन्हीं मूल व्रतों के परिपालन योग्य मनोवृत्ति तैयार करने व त्याग वृत्ति बढ़ाने के हेतु किया गया है। यह कार्य क्रमशः ही होकर जीवन का स्थायी अंग बन सकता है। इसीलिये श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं व सीढ़ियों का प्रतिपादन किया गया है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विधिवत् अभ्यास हो जाने पर ही अनगार वृत्ति अर्थात् मुनि आचार का ग्रहण हो सकता है। जब तक लेशमात्र भी परिग्रह है—संसार की सचित्त व अचित्त सृष्टि में आसक्ति है—तब तक मुनिवृत्ति का पालन होना अशक्य है। मुनि-धर्म में पूर्वोक्त पांच व्रतों को 'महाव्रत' के रूप में पालन करना पड़ता है। यहां साधक की अहिंसात्मक वृत्ति एवं स्व-पर कल्याण बुद्धि उसकी परम सीमा पर पहुंच जाती है। वह धर्मसाधन के योग्य अपने शरीर को बनाये रखने के लिये समाज से शुद्ध आहार मात्र की भिक्षा लेता है, और अपना सारा समय व शक्ति आत्मकल्याण और विश्व-हित के चिन्तन, परिरक्षण और प्रवर्तन में लगाता है। मुनि के समस्त मूल और उत्तर गुणों का अभिप्राय उसे क्रमशः पूर्णतः अनासक्त-वीतराग और ज्ञानी बनाना है। यही उसकी मुक्ति और सिद्धि है।

जैन दर्शन

यह आचार जिस दर्शन शास्त्र के ऊपर अवलम्बित है वह जैन धर्म के सात तत्त्वों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इन तत्त्वों का सार इस प्रकार है :— संसार के मूल द्रव्य दो हैं–जीव और अजीव। स्व और पर का बोध अर्थात् चेतना और ज्ञान, अथवा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का होना जीव का मुख्य लक्षण है। व्यवहार में जहां स्पर्शादि इन्द्रियां, मन, वचन व काय की प्रवृत्तियां, श्वासोच्छवास तथा आयु अर्थात् जीवन-काल की मर्यादा पाई जाती है वहां जीव का सद्भाव मानना योग्य है। ऐसे जीव संसार में अनन्त हैं। अजीव द्रव्य मूर्तिक व अमूर्तिक रूप से दो प्रकार का है। मूर्तिक द्रव्य को पुद्गल कहते हैं जिसमें नाना प्रकार के वर्ण, रस, गन्ध, व स्पर्श रूप गुण पाये जाते हैं। पुद्गल का छोटे से छोटा रूप परमाणु है और बड़े से बड़ा महास्कंध रूप पृथ्वी आदि। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सब इसी पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं। अमूर्त जीवों के शरीर भी पुद्गल परमाणुओं से ही बनते हैं। अमूर्तिक अजीव द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं। आकाश को हम सब जानते हैं। यही वह द्रव्य है जो शेष सब द्रव्यों को रहने के लिये अवकाश प्रदान करता है। यह आकाश भी अनन्त है। किन्तु इसका वह भाग परिमित है जिसमें जीव व पुद्गलादि द्रव्य निवास करते हैं और जिसे 'लोकाकाश' कहते हैं। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों से रहित अनन्त आकाश अलोकाकाश है। लोकाकाश अनन्त जीवों और पुद्गलों अर्थात् मूर्त द्रव्य से भरा हुआ तो है ही। साथ ही वह तीन अन्य द्रव्यों से व्याप्त है। जिस द्रव्य के कारण लोकाकाश में जीवों और पुद्गलों का गमनागमन सम्भव है वह द्रव्य कहलाता है 'धर्म' और जिस द्रव्य के कारण उनका स्थिर रहना सम्भव है वह द्रव्य कहलाता है 'अधर्म'। इन द्रव्य-वाचक धर्म और अधर्म शब्दों को कर्तव्य और अकर्तव्य बोधक शब्दों के अर्थ में समझने की भ्रान्ति नहीं करना चाहिये। सूर्य रश्मियां या विद्युत् लहरियां जिस द्रव्य के द्वारा प्रवाहित होती हैं वह 'ईथर' जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार धर्म द्रव्य ही है। काल को हम सब जानते हैं। उस से पदार्थों की वर्तना को भी हम मापते हैं। इसे भी लोकाकाश भर में व्याप्त एक स्वतंत्र द्रव्य माना है जिसके प्रत्येक लोकाकाश प्रदेश पर एक एक अणु के विद्यमान होने से ही पदार्थों में विपरिवर्तन होता रहता है, और कोई पदार्थ लगातार एक रूप नहीं रहने पाता। बौद्ध दर्शन में जिसे पदार्थों का क्षणिकत्व कहा है वह जैन दर्शनानुसार इसी काल द्रव्य का कर्तृत्व है।

हम ऊपर कह आये हैं कि पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्मतम रूप हमें परमाणु में दिखाई देता है। इन परमाणुओं की नाना प्रकार सूक्ष्म रचना होती है जिसे 'वर्गणा' कहते हैं। इन्हीं में एक कार्मण वर्गणा भी है। कार्मण वर्गणात्मक परमाणुओं के जीव-प्रदेशों के साथ सम्पर्क में आने को ही 'आस्रव' कहते हैं। उस समय यदि जीव के मन, वचन व काय में राग-द्वेषात्मक विकार रहा तो इस कार्मण वर्गणा का जीव-प्रदेशों के साथ 'बन्ध' हो जाता है जिसे प्रदेश-बन्ध कहते हैं। यही बन्ध भावों के अनुसार ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के रूप में

परिवर्तित हो जाता है। इसे ही प्रकृति-बंध कहते हैं। भावों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार उस बन्ध में तीव्र या मन्द रस देने की शक्ति पड़ जाती है। इसे अनुभाग-बंध कहते हैं। इसी के अनुसार उन कर्म-परमाणुओं के जीव के साथ संलग्न रहने की अधिक या कम काल-मर्यादा उत्पन्न हो जाती है जो स्थिति-बंध कहलाती है। यही कर्मबन्ध जीव को नाना गतियों, योनियों और अनुभवों में ले जाता है। इस क्रिया में कोई ईश्वर या परमात्मा भाग नहीं लेता। स्वयं जीव के अपने शुद्ध और अशुद्ध भावों के अनुसार कर्मबन्ध में उत्कर्ष-अपकर्ष आदि क्रियाएं होती रहती हैं।

जब जीव सतर्क होकर अपने भावों में राग-द्वेषात्मक विकारों को उत्पन्न नहीं होने देता तब पूर्वोक्त आस्रव व बन्ध की क्रिया का अवरोध हो जाता है जिसे 'संवर' कहते हैं। उपर्युक्त पांच व्रतों का व तदनुगामी अन्य नियमोपनियमों का परिपालन, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का अभ्यास, अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन, क्षुधा-तृषादि परीषहों पर विजय तथा धर्म और शुक्ल ध्यान आदि धार्मिक अनुष्ठानों का हेतु आस्रव व बन्ध के अवरोध-रूप संवर को प्राप्त करना ही है। इसी के साथ उक्त सत्क्रियाओं द्वारा पूर्व के बंधे हुए कर्मों का क्षय भी होता है जिसे 'निर्जरा' कहते हैं। यों तो प्रत्येक कर्मबन्ध अपनी कालमर्यादा के भीतर अपना उचित फल देकर आत्मप्रदेशों से पृथक हो जाता है। किन्तु इस 'सपाक निर्जरा' से जीव का कल्याण नहीं होता, क्यों कि अपना स्वाभाविक फल देकर झड़ने में ही वह बन्ध जीव में ऐसे विकार उत्पन्न कर देता है जिससे और भी नया कर्म बन्ध उत्पन्न हो जाता है, और जीव अपने दुःखानुभवों से मुक्ति नहीं पाता। किन्तु यदि पूर्वोक्त धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा आस्रव का निरोध और कर्मों का क्षय किया जाय तो 'अपाक निर्जरा' होती है जिससे जीव को कर्मों से छुटकारा मिलता है और आत्मा के स्वाभाविक दर्शन-ज्ञान-रूप गुण प्रकट होते हैं।

जब 'संवर' द्वारा कर्मबन्ध की पूरी रोक हो जाती है और 'निर्जरा' द्वारा पूर्व संचित समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब जीव के स्वाभाविक गुण अनन्त-ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य अपनी परिपूर्ण अवस्था में प्रकट होते हैं। यही 'मोक्ष' है व जीव की परमात्मत्व-प्राप्ति है।

जैनधर्म के सातों तत्त्वों का निरूपण हो चुका। इसे संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं—जीव एक द्रव्य है और अजीव दूसरा। इन दोनों का परस्पर सम्पर्क रूप आस्रव और मेल रूप बन्ध होता है जिससे जीव नानाप्रकार के सुख-दुख का अनुभवन करता है। यदि इस सम्पर्क का अवरोध अर्थात् संवर कर लिया जाय, और संचित कर्मों की भी धार्मिक क्रियाओं द्वारा निर्जरा कर दी जाय तो जीव का मोक्ष हो जाता है और उसे अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है।

आध्यात्मिक उत्कर्ष की सीढ़ियां

कर्मबन्ध के घोरतम अन्धकार से निकलकर मोक्ष तक पहुंचने के लिये जिस आत्मोत्कर्ष की आवश्यकता होती है उसके चौदह दर्जे माने गये हैं जिन्हें

गुणस्थान कहते हैं। सबसे निम्न गुणस्थान उन अनन्त जीवों का है जिन्हें स्व-पर, आत्म-अनात्म एवं बुरे-भले का कोई विवेक नहीं। यह मिथ्यात्व गुणस्थान है। जिस समय जीव को तात्त्विक दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तब उसका सम्यक्त्व नामक चौथा गुणस्थान हो जाता है। यदि यह सम्यक्त्व की प्राप्ति तात्त्विक दृष्टि को ढंकने वाले कर्मों के क्षयसे अर्थात् क्षायिक न होकर केवल उन कर्मों के तात्कालिक उपशम या क्षयोपशम मात्र से हुई तो उस जीव के सम्यक्त्व से पुनः पतित होने की संभावना होती है। सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व तक पहुंचने से पूर्व जीव की जो आध्यात्मिक अवस्था होती है उसे सासादन नामक दूसरा गुणस्थान कहा गया है। कभी कभी सम्यक्त्व के साथ कुछ मिथ्यात्व का अंश भी मिश्रित हो जाता है। यह सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र नामक तीसरा गुणस्थान है। सम्यक्त्व हो जाने पर जब कुछ संयमभाव जागृत हो जाता है और जीव क्रमशः श्रावक के व्रतों का पालन करने लगता है तब उसका देशविरत या संयमासंयम नामक पांचवां गुणस्थान होता है। महाव्रतों के पालक छठे गुणस्थानवर्ती 'संयत' या प्रमत्तविरत होते हैं। जब संयम में से पन्द्रह प्रकार का प्रमाद भी दूर हो जाता है तब सातवां अप्रमत्त गुणस्थान होता है। इससे आगे यदि जीव अपनी घातक कर्मप्रकृतियों का उपशम करता हुआ आगे बढ़ता है तो वह अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय इन आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानों में से बढ़ता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान में 'उपशान्तमोह' रूप वीतराग होकर कुछ क्षणों पश्चात् अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में ही पुनः नीचे आ गिरता है। यह उपशम श्रेणी कहलाती है। किन्तु यदि जीव उक्त तीन गुणस्थानों में अपनी घातक प्रकृतियों का क्षय करता हुआ बढ़ता है तो वह ग्यारहवें गुणस्थान में न पहुंचकर बारहवे 'क्षीणमोह' गुणस्थान में पहुंच जाता है जहां से वह केवलज्ञान प्राप्त कर 'संयोगकेवली' नामक तेरहवें और वहां से 'अयोग-केवली' नामक चौदहवें गुणस्थान में पहुंचकर अल्पकाल में ही शरीर को छोड़ सिद्ध, मुक्त, परमात्मा हो जाता है। जिस समय जीव तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में होता है, तभी यदि उसने अपने पुण्य कर्मों द्वारा तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया हो तो, वह तीर्थंकर बनकर जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देता है।

जीवजगत् का पर्यालोचन

जीवों की विशेष परिस्थितियों का अध्ययन करने की चौदह दिशायें मानी गई हैं जिन्हें 'मार्गणास्थान' कहते हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतियां हैं। इनमें जीवों की क्या दशाएं होती हैं और उनमें कितने गुणस्थान प्राप्त किये जा सकते है इसका विचार प्रथम गतिमार्गणा में होता है। कोई जीव जैसे पृथ्वी, अप, तेज वायु व वनस्पति कायिक स्पर्श इन्द्रियमात्र के विकसित होने से एकेन्द्रिय होते है। किन्हीं के स्पर्श और जिह्वा ये दो इन्द्रियां होती हैं। किन्हीं के घ्राण और होने से वे त्रीन्द्रिय होते हैं। कोई चक्षु भी रखते हैं और चतुरेन्द्रिय होते है। तथा कोई जीव श्रोत्र सहित पंचेन्द्रिय होते हैं। इन

जीवों की दशाओं व योग्यताओं आदि का विचार द्वितीय इन्द्रियमार्गणा में किया जाता है। पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों का शरीर स्थावर और द्वीन्द्रिय आदि जीवों का शरीर त्रस कहलाता है। एकेन्द्रियों में भी वनस्पति के प्रत्येक व साधारण, तथा सप्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित आदि भेद होते हैं। इस सब का विचार कायमार्गणा नामक तृतीय मार्गणा में किया गया है। मन, वचन और काय की क्रिया का नाम योग है, और चौथी योगमार्गणा में जीव की इन्हीं क्रियाओं का विचार किया जाता है। कोई जीव पुरुष लिंगी होते हैं, कोई स्त्री लिंगी और कोई नपुंसक। इसके विचार के लिये पांचवीं वेद मार्गणा है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये जीव के चार कषाय रूप विकार हैं इन्हीं का विधिवत् ज्ञान कराने वाली छठीं कषाय मार्गणा है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, ये ज्ञान के पांच भेद हैं। इनका ही सूक्ष्म विचार सातवीं ज्ञानमार्गणा में पाया जाता है। व्रतधारण, समिति-पालन, कषायों का निग्रह, मन, वचन, काय की असत्प्रवृत्तियों का त्याग और इंद्रियों का निग्रह, ये संयम के कार्य हैं और इनका विचार आठवीं संयम मार्गणा में होता है। ज्ञान से पूर्व चेतना का जो पदार्थ के प्रति अवधान होता है उसे दर्शन कहते हैं। यह दर्शन चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल रूप से चार प्रकार का है जिसका विवरण नौवीं दर्शन मार्गणा का विषय है। क्रोध मानादि कषायों के उदय सहित अथवा विना उदय के जो मन वचन काय की प्रवृत्ति में तीव्रता व मंदता पाई जाती है वह लेश्या कहलाती है, क्योंकि इसीके द्वारा जीव पर कर्मों का लेप चढ़ता है। कषायों के चढ़ाव उतार की अपेक्षा इसके छह भेद हैं: कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इन्हींका विचार दशवीं लेश्या मार्गणा में किया गया है। कोई जीव तो सद्दृष्टि प्राप्त कर सिद्ध होने योग्य अर्थात् भव्य हैं और कोई अभव्य। जीवों का यही भेद ग्यारहवीं भव्यत्व मार्गणा का विषय है। जिस गुण की प्राप्ति से जीव मिथ्यात्व छोड़कर श्रद्धानी बनकर अपना व दूसरों का कल्याण करने लगता है उसे सम्यक्त्व कहते हैं। इसी के स्वरूप का अध्ययन करने के लिये बारहवीं सम्यक्त्व मार्गणा है। एकेन्द्रिय से लगाकर चतुरिन्द्रिय तक के समस्त जीव और पंचेन्द्रियों में भी कुछ जीव ऐसी योग्यता नहीं रखते जिससे वे शिक्षा, क्रिया, आलाप व उपदेश का ग्रहण कर सकें। ये जीव असंज्ञी हैं और जो शिक्षादि को ग्रहण कर सकते हैं वे संज्ञी। यह विवेक तेरहवीं संज्ञा मार्गणा में किया गया है। नया शरीर धारण करने के लिये गमन आदि कुछ ही ऐसी अवस्थायें हैं जब जीव अपने आंगोपांगादि के पोषण योग्य नोकर्म वर्गणारूप पुद्गलद्रव्य का आहार या ग्रहण न करता हो। शेष अवस्थाओं में तो वह निरन्तर आहार करता ही रहता है। जीव की इन्हीं आहारक व अनाहारक अवस्थाओं का विचार चौदहवीं आहार मार्गणा में पाया जाता है। इस प्रकार प्राणि-वर्ग का अध्ययन इन चौदह मार्गणाओं में किया गया है।

विरोध में सामञ्जस्य

जो धर्म जीवमात्र से मैत्री भाव रखने और उत्तम क्षमा का अभ्यास करने का उपदेश देता है उसे अपने विचार-क्षेत्र में उदार और सामञ्जस्य दृष्टि का पोषक होना आवश्यक है। जैन धर्म की यह उदार और सामञ्जस्य दृष्टि उसके स्याद्वाद और नयवाद में पाई जाती है। पहले तो यह संसार ही बड़ा विचित्र और नानारूप एवं विषमशील है। दूसरे जितने जीव हैं वे सभी अपनी अपनी विभिन्न परिस्थितियों के वशीभूत होने से अपना अपना भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। तीसरे काल अपनी परिवर्तन-शीलता द्वारा किसी भी सजीव या अजीव पदार्थ को अधिक समय तक एकरूप नहीं रहने देता। और चौथे प्रत्येक वस्तु अपने अपने अनन्त गुण-धर्म रखती है और अनन्त पर्यायें बदल सकती हैं। ऐसी अवस्था में यदि किसी वस्तु के सम्बन्ध में देश-कालादि का विचार किये बिना कोई बात एकान्त बुद्धि से कही जायगी तो वह सर्वथा सत्य न हो सकेगी। वह अंधे के एकांग स्पर्श मात्र से प्राप्त किये हुए हाथी के ज्ञान के समान एकांगी होगी। तथापि हम वस्तु के समस्त धर्मों का एक साथ विचार व कथन भी तो नहीं कर सकते। एक समय में किसी एक ही धर्म का विचार तो किया जा सकेगा। अतएव जब हम अन्य संभावनाओं का विचार छोड़कर वस्तु के स्वरूप-विशेष का कथन करते हैं तब वह एकान्त-दूषित होता है, और जब हम उन अन्य संभावनाओं का ध्यान रखकर कोई बात कहते हैं तब हम अनेकान्तवादी और सत्य हैं। इस दृष्टि से संसार की जितनी प्रवृत्तियां हैं वे सब अपनी अपनी विशेषता रखती हैं, और अपनी अपनी परिस्थिति में उनका औचित्य भी हो सकता है। किन्तु वे दूषित तब हो जाती हैं जब वे अपने देश, काल व मात्रा आदि की मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगती हैं। स्याद्वाद और अनेकान्त में वस्तुस्वरूप के कथन में इन्हीं विशेष दृष्टिकोणों पर जोर दिया गया है जिनके द्वारा हम विरुद्ध दिखाई देने वाली बातों में भी परस्पर सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। कोई किसी वस्तु को किसी विशेष गुण को लक्ष्य करके 'है' कहता है, और कोई उससे अन्य गुण को लक्ष्य करके कहता है 'नहीं'। यदि हम दोनों के लक्ष्यों को जान जायं, तो फिर हमें उन दोनों के 'है' और 'नहीं' में विरोध दिखाई नहीं देता, किन्तु सामंजस्य और परिपूरकता दृष्टिगोचर होगी। इसी कारण कहा गया है कि जैनी अपने अनेकान्त द्वारा समस्त मिथ्यामतों के समूह में ही पूर्णसत्य देखने का प्रयत्न करता है। यदि आज का विरोध और कषायग्रस्त संसार इस अनेकान्तात्मक विचारसरणि और अहिंसात्मक वृत्ति को अपना ले तो उसके समस्त दुःख दूर हो जायं और मनुष्य समाज में शांति, सुख और बन्धुत्व की स्थापना हो जाय।

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं ।
णमो सिद्धाणं ।
णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्व साहूणं ॥१॥

एसो पंच-णमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥ २ ॥

चत्तारि मंगलं ।
अरिहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ।
केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥ ३ ॥

चत्तारि लोगुत्तमा ।
अरिहंता लोगुत्तमा ।
सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा ।
केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥ ४ ॥

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि ।
अरिहंते सरणं पव्वज्जामि ।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि ।
साहू सरणं पव्वज्जामि ।
केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥ ५ ॥

लोक-स्वरूप

भव्वजणाणंदयरं वोच्छामि अहं तिलोय-पण्णत्तिं ।
णिब्भर-भत्ति-पसादिद-वर-गुरु-चलणाणुभावेणं ॥ १ ॥ १-८७

जगसेढि-घणपमाणो लोयायासो सपंचदव्वरिदी ।
एस अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे ॥ २ ॥ १-९१

आदि-णिहणेण हीणो पगदि-सरूवेण एस संजादो ।
जीवाजीव-समिद्धो सव्वण्हावलोइओ लोओ ॥ ३ ॥ १-१३३

धम्माधम्म-णिबद्धा गदिरगदी जीव पोग्गलाणं च ।
जेत्तिय-मेत्तायासे लोयाआसो स णादव्वो ॥ ४ ॥ १-१३४

लोक—३

हेट्ठिमलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण ।
मज्झिम-लोयायारो उब्भियमुरअद्धसारिच्छो ॥ ५ ॥ १-१३७

उवरिम-लोयायारो उब्भियमुरवेण होइ सरिसत्तो ।
संठाणो एदाणं लोयाणं एण्हिं साहेमि ॥ ६ ॥ १-१३८

हेट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-लोउच्छेहो कमेण रज्जूवो ।
सत्त य जोयणलक्खं जोयणलक्खूणसगरज्जू ॥ ७ ॥ १-१५१

नरक—७

इह रयण-सक्करा-वालु-पंक-धूम-तम-महातमादिपहा ।
सुरवद्धम्मि महीओ सत्त च्चिय रज्जु अंतरिया ॥ ८ ॥ १-१५२

धम्मा-वंसा-मेघा-अंजणरिट्ठाण उब्भमघवीओ ।
माघविया इय ताणं पुढवीणं गोत्तणामाणि ॥ ९ ॥ १-१५३

चुलसीदी लक्खाणं णिरयविला होंति सव्व-पुढवीसुं ।
पुढविं पडि पत्तेक्कं ताण पमाणं परूवेमो ॥ १० ॥ २-२६

तीसं पणवीसं च य पण्णरसं दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पणरहिदेक्कं लक्खं पंच य रयणाइपुढवीणं ॥ ११ ॥ २-२७

मज्जं पिवंता पिसिदं लसंता जीवे हणंते मिगयाण तत्ता ।
णिमेस मेत्तेण सुहेण पावं पावंति दुक्खं णिरए अणंतं ॥ १२ ॥ २-३६२

लोह-कोह-भय-मोह-बलेणं जे वदंति वयणं पि असच्चं ।
ते णिरंतरभये उरुदुक्खे दारुणम्मि णिरयम्मि पडंते ॥ १३ ॥ २-३६३

ज्योतिषी देव—५

चंदा दिवायरा गह-णक्खत्ताणि पइण्णताराओ ।
पंचविहा जोदिगणा लोयंतघणोवहिं पुट्टा ॥ १४ ॥ ७-७

एक्केक्क-ससंकाणं अट्ठावीसा हुवंति णक्खत्ता ।
एदाणं णामाइं कमजुत्तीए परूवेमो ॥ १५ ॥ ७-२५

नक्षत्र—२७

कित्तिय-रोहिणि-मिगसिर-अद्दाओ पुणव्वसु तहा पुस्सो ।
असिलेसादी मघओ पुव्वाओ उत्तराओ हत्थो य ॥ १६ ॥ ७-२६

चित्ताओ सादीओ होंति विसाहाणुराह-जेट्ठाओ ।
मूलं पुव्वासाढा तत्तो वि य उत्तरासाढा ॥ १७ ॥ ७-२७

आभिजी-सवण-धनिट्ठा सदभिस-णामाओ पुव्वभद्दपदा ।
उत्तरभद्दपदा रेवदीओ तह अस्सिणी भरणी ॥ १८ ॥ ७-२८

स्वर्ग—१२

बारस कप्पा केई केई सोलस वदंति आइरिया ।
तिविहाणि भासिदाणि कप्पातीदाणि पडलाणि ॥ १९ ॥ ८-११५

सोहम्मीसाण-सणक्कुमार-माहिंद-बम्ह-लंतवया ।
महसुक्क-सहस्सारा आणद-पाणदय-आरणच्चुदया ॥ २० ॥ ८-१२०

स्वर्ग—१६

सोहम्मो ईसाणो सणक्कुमारो तहेव माहिंदो ।
बम्हो बम्हुत्तरयं लंतव-कापिट्ठ-सुक्क-महसुक्का ॥ २१ ॥ ८-१२७

सदर-सहस्साराणद-पाणद-आरणय-अच्चुदा णामा ।
इय सोलस कप्पाणि मण्णंते केइ आइरिया ॥ २२ ॥ ८-१२८

ग्रैवेयक–९

एवं बारस कप्पा कप्पातीदेसु णव य गेवेज्जा ।
हेट्ठिम-हेट्ठिम णामो हेट्ठिम-मज्झिल्ल हेट्ठिमोवरिमो ॥ २३ ॥८-१२१
मज्झिम-हेट्ठिम णामो मज्झिम-मज्झिम मज्झिमोवरिमो ।
उवरिम-हेट्ठिम णामो उवरिम-मज्झिम य उवरिमोवरिमो ॥२४॥ ८-१२२
विजयंत-वइजयंतं-जयंत-अपराजिदं च णामाणि ।
सव्वट्ठसिद्धिणामे पुव्वावर-दक्खिणुत्तर-दिसाए ॥२५॥ ८-१२५
माणुस-लोय-पमाणे संठिय-तणुवाद उवरिमे भागे ।
सरिससिरा सव्वाणं हेट्ठिमभागम्मि विसरिसा केई ॥२६॥ ९-१५
जावद्धं गंतव्वं तावं गंतूण लोयसिहरम्मि ।
चेट्ठन्ति सव्व सिद्धा पुह पुह गयसित्थ-मूस-गब्भणिहा ॥२७॥ ९-१६
अदिसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवजोगं तु सिद्धाणं ॥२८॥ ९-५९

जम्बूद्वीप

माणुस-जग बहुमज्झे विक्खादो होदि जंबुदीओ त्ति ।
एक्कज्जोयणलक्ख-विक्खंभजुदो सरिसवट्टो ॥२९॥ ४-११
तम्मि जंबूदीवे सत्तविहा होंति जणपदा पवरा ।
एदाणं विच्चाले छक्कुलसेला विरायंते ॥३०॥ ४-९०

क्षेत्र–७

दक्खिण-दिसाए भरहो हेमवदो हरि-विदेह-रम्माणि ।
हेरण्णवदेरावद-वरिसा कुल-पव्वदंतरिदा ॥३१॥ ४-९१

पर्वत–६

हिमवंत महाहिमवंत-णिसिध-णीलद्दि-रुम्मि-सिहरिगिरी ।
मूलोवरिसमवासा पुव्वावर-जलधीहिं संलग्गा ॥३२॥४-९४

भरत क्षेत्र

भरह-खिदीबहुमज्झे विजयद्धो णाम भूधरो तुंगो ।
रजदमओ चेट्ठेदि हु णाणावररयण-रमणिज्जो ॥ ३३ ॥ ४-१०७

गंगा

हिमवंताचलमज्झे पउमदहो पुव्व-पच्छिमायामो । ४-१९५
तस्सिं पुव्वदिसाए णिग्गच्छदि णिम्मगा गंगा ॥ ३४ ॥ ४-१९६

सिन्धु

पउमदहादो पच्छिमदारेणं णिस्सरेदि सिंधुणदी । ४-२५२
चोद्दह-सहस्ससरिया परिवारा पविसए उवहिं ॥ ३५ ॥ ४-२६४

खंड—६

गंगा-सिन्धुणईहिं वेयड्ढ-णगेण भरहखेत्तम्मि ।
छक्खंडं संजादं ताण विभागं परूवेमो ॥ ३६ ॥ ४ २६६
उत्तर-दक्खिण भरहे खंडाणि तिण्णि होंति पत्तेक्कं ।
दक्खिण-तिय-खंडेसु अज्जाखंडो त्ति मज्झिम्मो ॥ ३७ ॥ ४-२६७
भरहक्खेत्तम्मि इमे अज्जाखंडम्मि कालपरिभागा ।
अवसप्पिणि-उस्सप्पिणि पज्जाया दोण्णि होंति फुढं ॥३८॥४-३१२

काल—६

दोण्णि वि मिलिदे कप्पं छब्भेदा होंति तत्थ एक्केक्कं ।
सुसुमसुसुमं च सुसुमं तइज्जयं सुसमदुस्समयं ॥ ३९ ॥ ४-३१६
दुस्समसुसमं दुस्सममदिदुस्समयं च तेसु पढमम्मि । ४-३१७
परदाररदी-परधणचोरी णं णत्थि णियमेणं ॥ ४० ॥ ४-३३३
कालम्मि सुसमणामे तियकोडाकोडिउवहिउवमाम्मि ।
पढमादो हायंते उच्छेहाऊ-बलद्धि-तेजाई ॥ ४१ ॥ ४-४०२
उच्छेह-पहुदिखीणे पविसेदि हु सुसमदुस्समो कालो । ४-४०३
अच्छरसरिसा णंारी अमरसमाणो णरो होदि ॥ ४२ ॥ ४-४०५

कुलकर—१४

एदे चउदस मणुओ पदिसुदपहुदी हु णाहिरायंता । *
पुव्वभवम्मि विदेहे राजकुमारा महाकुले जादा ॥४३॥ ४-५०४

कुलधारणादु सव्वे कुलधरणामेण भुवणविक्खादा ।
कुलकरणम्मि य कुसला कुलकरणामेण सुपसिद्धा ॥४४॥ ४-५०९

एत्तो सलायपुरिसा तेसट्ठी सयलभुवण-विक्खादा ।
जायंति भरहखेत्ते णरसीहा पुण्णपाकेण ॥४५॥ ४-५१०

तित्थयर-चक्क-बल-हरि-पडिसत्तू णाम विस्सुदा कमसो ।
विउणियबारस-बारस-पयत्थ-णिधि-रंधे-संखाए ॥४६॥ ४-५११

तीर्थंकर—२४

उसहमजियं च संभवमहिणंदण-सुमइ णामधेयं च ।
पउमप्पहं सुपासं चंदप्पह-पुप्फयंत-सीयलए ॥४७॥ ४-५१२

सेयंस-वासुपुज्जे विमलाणंते य धम्म-संती य ।
कुंथु-अर-मल्लि-सुव्वय-णमि-णेमी-पास-वड्ढमाणा य ॥४८॥४-५१३

पणमहु चउवीस जिणे तित्थयरे तत्थ भरहखेत्तम्मि ।
भव्वाणं भवरुक्खं छिंदंते णाण-परसूहिं ॥४९॥ ४-५१४

चक्रवर्ती—१२

भरहो सगरो मघवा सणंकुमारो य संति कुंथु अरा ।
तह य सुभोमो पउमो हरि-जयसेणा य बम्हदत्तो य ॥५०॥४-५१५

छक्खंड-पुढविमंडल-पसाहणा कित्ति-भरियं-भुवणयला ।
एदे बारस जादा चक्कहरा भरह-खेत्तम्मि ॥५१॥ ४-५१६

---

* सुषम-दुषमा काल के अन्तिम भाग में क्रमशः चौदह कुलकर होते हैं जो अपने अपने काल की परिस्थिति के अनुसार युगधर्म का उपदेश देते हैं। उन १४ कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं—प्रतिश्रुति[1], सन्मति[2], क्षेमंकर[3], क्षेमंधर[4], सीमंकर[5], सीमंधर[6], विमलवाहन[7], चक्षुष्मान्[8], यशस्वी[9], अभिचन्द्र[10], चन्द्राभ[11], मरुदेव[12], प्रसेनजित्[13], नाभिराय[14]।

बलदेव–९

विजयो अचल सुधम्मो सुप्पहणामो सुदंसणो णंदी ।
तह णंदिमित्त रामो पउमो णव होंति बलदेवा ॥५२॥ ४-५१७

नारायण–९

तह य तिविट्ठ-दुविट्ठा सयंभु पुरिसुत्तमो पुरिससीहो ।
पुंडरिय-दत्त-णारायणा य किण्हो हुवंति णव विण्हू ॥५३॥४-५१८

प्रतिनारायण–९

अस्सग्गीवो तारय-मेरग-मधुकीडभा तह णिसुंभो ।
बलि-पहरण-रावणओ जरसंधो य णवय पडिसत्तू ॥५४॥ ४-५१९

रुद्र–११

भीमावलि-जियसत्तू रुद्दो वइसाणलो य सुपइट्ठो ।
तह अचल पुंडरीओ अजियंधर आजियणाभि-पेढाला ॥५५॥४-५२०
सच्चइसुदो य एदे एक्कारस होंति तित्थयरकाले ।
रुद्दा रउद्दकम्मा अहम्म-वावार-संलग्गा ॥५६॥ ४-५२१

महावीर

सिद्धत्थराय पियेक्कारिणीहिं णयरम्मि कुंडले वीरो ।
उत्तरफग्गुणि रिक्खे चित्तसिया तेरसीए उप्पण्णो ॥५७॥ ४-५४९
अट्ठुत्तर अधियाए वेसदपरिमाणवास-अदिरित्ते ।
पासजिणुप्पत्तीदो उप्पत्ती वड्ढमाणस्स ॥५८॥ ४-५७७
मग्गसिर-बहुल-दसमी-अवरण्हे उत्तरासु णाधवणे ।
तदियंरखणम्मि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण ॥५९॥ ४-६६७
णंमो मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य ।
पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ॥६०॥ ४-६७०
वइसाह-सुद्ध-दसमी माघा-रिक्खम्मि वीरणाहस्स ।
रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥६१॥ ४-७०१

कत्तियकिण्हे चोद्दसि पच्चूसे सादिणामणक्खत्ते ।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥ ६२ ॥ ४-१२०८
तिय वासा अड मासं पक्खं तह तदियकालअवसेसे ।
सिद्धो रिसहजिणिंदो वीरो तुरिमस्स तेत्तिए सेसे ॥६३॥ ४-१२३९
णिव्वाणे वीरजिणे वासतये अट्ठमास पक्खेसुं ।
गलिदेसुं पंचमओ दुस्समकालो समल्लियदि ॥ ६४ ॥ ४-१४७४

केवली ३

जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी ।
जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥ ६५ ॥ ४-१४७६
तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो ।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥६६॥ ४-१४७७

शकराज

वीरजिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठि वासपरिमाणे ।
कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥ ६७ ॥ ४-१४९६
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।
पण मासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥ ६८ ॥ ४-१४९९
णिव्वाणगदे वीरे चउसदइगिसट्ठि वासविच्छेदे ।
जादो य सगणरिंदो रज्जं वंसस्स दुसयबादाला ॥६९॥ ४-१५०३
दोण्णि सदा पणवण्णा गुत्ताणं चउमुहस्स बादालं ।
वस्सं होदि सहस्सं केई एवं परूवंति ॥ ७० ॥ ४-१५०४
जक्काले वीरजिणो णिस्सेयससंपयं समावण्णो ।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो ॥ ७१ ॥ ४-१५०५
पालकरज्जं सट्ठिं इगिसयपणवण्ण विजयवंसभवा ।
चालं मुरुदयवंसा तीसं वस्सा सुपुस्समित्तम्मि ॥ ७२ ॥ ४-१५०६
वसुमित्त-अग्गिमित्ता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं ।
णरवाहणा य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥ ७३ ॥ ४-१५०७

भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं हवंति बादाला ।
तत्तो गुत्ता ताणं रज्जे दोण्णि य सयाणि इगितीसा ॥७४॥४-१५०८
तत्तो कक्की जादो इंदसुदो तस्स चउमुहो णामो ।
सत्तरि वरिसा आऊ विगुणिय इगिवीस रज्जंतो ॥७५॥ ४-१५०९
अह साहिऊण कक्की णियजोग्गे जणपदे पयत्तेणं ।
सुक्कं जाचदि लुद्धो पिंडग्गं जाव ताव समणाओ ॥७६॥४-१५१०
अह को वि असुरदेवो ओहीदो मुणिगणाण उवसग्गं ।
णादूणं तं कक्किं मारेदि हु धम्मदोहि त्ति ॥ ७७ ॥ ४-१५१३
कक्किसुदो अजिदंजयणामो रक्ख त्ति णमदि तच्चरणे ।
तं रक्खदि असुरदेओ धम्मे रज्जं करेज्ज त्ति ॥ ७८ ॥ ४-१५१४
तत्तो दोवे वासा सम्मद्धम्मो पयट्टदि जणाण ।
कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हाएदे ॥ ७९ ॥ ४-१५१५

[यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ति]

: २ :

गृहस्थ-धर्म [१]

अरहंते वंदित्ता सावगधम्मं दुवालसविहं पि ।
वोच्छामि समासेणं गुरूवएसाणुसारेणं ॥ १ ॥
सपत्तदंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य ।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं विंति ॥ २ ॥
पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइं चउरो सावगधम्मो दुवालसहा ॥ ३ ॥ ६

अहिंसा

पंच उ अणुव्वयाइं थूलगपाणिवहविरमणाईणि ।
तत्थ पढमं इमं खलु पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥ ४ ॥ १०६
थूलगपाणिवहस्साविरई दुविहो अ सो वहो होइ ।
संकप्पारंभेहि य वज्जइ संकप्पओ विहिणा ॥ ५ ॥ १०७
उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जिज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥ ६ ॥ २२३
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति निद्दिट्ठा ॥ ७ ॥ २२४
पडिवज्जिऊण य वयं तस्सइयारे जहाविहिं नाउं ।
संपुण्णपालणट्ठा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ ८ ॥ २५७
वध-बह-छविच्छिेए अइभारे भत्त-पाणवुच्छेए ।
कोहाइदूसियमणो गोमणुयाईण नो कुज्जा ॥९॥ २५८
परिसुद्धजलग्गहणं दारुयधन्नाइयाण तह चेव ।
गहियाण वि परिभोगो विहीइ तसरक्खणट्ठाए ॥१०॥ २५९

सत्य

थूलमुसावायस्स उ विरई दुच्चं स पंचहा होइ ।
कन्ना-गो-भूआलिय-नासहरण-कूडसक्खिज्जे ॥११॥ २६०

पडिवज्जिऊण य वयं तस्सइयारे जहाविहिं नाउं ।
संपुण्णपालणट्ठा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥१२॥ २६२

सहसा अब्भक्खाणं रहसा य सदारमंतभेयं च ।
मोसोवएसयं कूडलेहकरणं च वज्जिज्जा ॥१३॥ २६३

बुद्धीए निएऊणं भासिज्जा उभयलोगपरिसुद्धं ।
सपरोभयाण जं खलु न सव्वहा पीडजणगं तु ॥१४॥ २६४

अचौर्य

थूलमदत्तादाणे विरई तच्चं दुहा य तं भणियं ।
सच्चित्ताचित्तगयं समासओ वीयरागेहिं ॥१४॥ २६५

वज्जिज्जा तेनाहड-तक्करजोगं विरुद्धरज्जं च ।
कूडतुल-कूडमाणं तप्पडिरूवं च ववहारं ॥१५॥ २६८

ब्रह्मचर्य

परदारपरिच्चाओ सदारसंतोसमो वि य चउत्थं ।
दुविहं परदारं खलु उरालवेउव्विभेएणं ॥१६॥ २७०

इत्तरिय-परिग्गहियापरिगहियागमणणंगकीडं च ।
परवीवाहक्करणं कामे तिव्वाभिलासं च ॥१७॥ २७३

वज्जिज्जा मोहकरं परजुवइदंसणाइ सवियारं ।
एए खु मयणवाणा चरित्तपाणे विणासंति ॥१८॥ २७४

अपरिग्रह

सच्चित्ताचित्तेसुं इच्छापरिणाममो य पंचमयं ।
भणियं अणुव्वयं खलु समासओ णंतनाणीहिं ॥१९॥ २७५

खित्ताइ हिरण्णाई धणाए दुपयाइ कुवियगस्स तहा ।
सम्मं विसुद्धचित्तो न पमाणाइक्कमं कुज्जा ॥२०॥ २७८

भाविज्ज य संतोसं गहियमियाणिं अजाणमाणेणं ।
थोवं पुणो ण एवं गिण्हिस्सामो त्ति चिंतिज्जा ॥२१॥ २७९

दिग्व्रत

उड्ढमहे तिरियं पि य दिसासु परिमाणकरणमिह पढमं ।
भणियं गुणव्वयं खलु सावगधम्मम्मि वीरेण ॥२२॥ २८०

भोगोपभोग-परिमाण

उवभोग-परीभोगे वीयं परिमाणकरणमो नेयं ।
अणियमियवाविदोसा न भवंति कयम्मि गुणभावो ॥२३॥ २८४

सच्चित्ताहारं खलु तप्पडिवद्धं च वज्जए सम्मं ।
अप्पोलिय-दुप्पोलिय-तुच्छोसहि-भक्खणं चेव ॥२४॥ २८६

अनर्थदण्ड व्रत

इंगालीवणसाडी-भाडी-फोडीसु वज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव दंतलक्खरस-केस-विस-विसयं ॥२५॥ २८७

एवं खु जंतपीलणकम्मं निल्लंछणं च दवदाणं ।
सर-दह-तलायसोसं असईपोसं च वज्जिज्जा ॥२६॥ २८८

विरई अणत्थदंडे तच्चं स चउव्विहो अवज्झाणो ।
पमायायरियहिंसप्पयाणपावोवएसे य ॥२७॥ २८९

अट्ठेण तं न बंधइ जमणट्ठेणं तु थेव-वहुभावा ।
अट्ठे कालाईया नियामगा न उ अणट्ठाए ॥२८॥ २९०

कंदप्पं कुक्कुइयं मोहरियं संजुयाहिगरणं च ।
उवभोगपरीभोगाइरेयगयं चित्थ वज्जेइ ॥२९॥ २९१

सामायिक

सिक्खापयं च पढमं सामाइयमेव तं तु नायव्वं ।
सावज्जोयरजोगाण वज्जणासेवणारूवं ॥३०॥ २९२

सामइयम्मि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं वहुसो सामाइयं कुज्जा ॥३१॥ २९९

देशावकासिक

दिसि वयगहियस्स दिसापरिमाणस्सेह पइदिणं जं तु ।
परिमाणकरणमेयं वीयं सिक्खावयं भणियं ॥३२॥ ३१८

देसावगासियं नाम सप्पविसनायओऽपमायाओ ।
आसयसुद्धीइ हियं पालेयव्वं पयत्तेणं ॥३३॥ ३१९

प्रोषधोपवास

आहार-पोसहो खलु सरीरसक्कारपोसहो चेव ।
बंभव्वावारेसु य तइयं सिक्खावयं नाम ॥३४॥ ३२१

अप्पडि-दुप्पडिलेहिय-सिज्जा-संथारयं विवज्जिज्जा ।
अपमज्जिय-दुपमज्जिय तह उच्चाराइ भूमिं च ॥ ३५ ॥ ३२३

तह चेव य उज्जुत्तो विहीइ इह पोसहम्मि वज्जिज्जा ।
सम्मं च अणणुपालणमाहाराईसु सव्वेसु ॥ ३६ ॥ ३२४

नायागयाण अन्नाइयाण तह चेव कप्पणिज्जाणं ।
देसद्धसद्ध-सक्कारकमजुयं परमभत्तीए ॥ ३७ ॥ ३२५

अतिथि-संविभाग

आयाणुग्गहबुद्धीइ संजयाणं जमित्थ दाणं तु ।
एयं जिणेहिं भणियं गिहीण सिक्खावयं चरिमं ॥ ३८ ॥ ३२६

इत्थ उ समणोवासगधम्मे अणुवय-गुणव्वयाइं च ।
आव कहियाइ सिक्खावयाइं पुण इत्तराइं ति ॥ ३९ ॥ ३२८

कुसुमे हि वासियाणं तिलाण तिल्लं पि जायइ सुयंधं ।
एदोवमा हु वोही पन्नता वीयरागेहिं ॥ ४० ॥ ३८७

[हरिभद्रसूरिकृत श्रावकप्रज्ञप्ति]

गृहस्थ-धर्म [२]

सायारो अणयारो भवियाणं जेण देसिओ धम्मो ।
णमिऊण तं जिणिंदं सावयधम्मं परूवेमो ॥ १ ॥

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइभुत्ती य ।
बम्हारंभपरिग्गह-अणुमदमुद्दिट्ठ देसविरदम्हि ॥ २ ॥ ४

एयारस ठाणाइं सम्मत्तविवज्जियस्स जीवस्स ।
जम्हा ण संति तम्हा सम्मत्तं सुणह वोच्छामि ॥ ३ ॥ ५

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होदि ।
संकाइ-दोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥ ४ ॥ ६ ॥

णिस्संका णिक्कंखा णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदियरणं वच्छल्ल पहावणा चेव ॥ ५ ॥ ४८

संवेओ[1] णिव्वेओ[2] णिंदा[3] गरहा[4] य उवसमो[5] भत्ती[6] ।
वच्छल्लं[7] अणुकंपा[8] अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ६ ॥ ४९

एरिस-गुण-अट्ठ-जुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो ।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थे य ॥ ७ ॥ ५६

१-दर्शन

पंचुंवरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेइ ।
सम्मत्त-विसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥ ८ ॥ ५७

उंबर-वड-पीपल-पिंपरि-पायर-संधाणतरु-पसूणाइं ।
णिच्चं तससंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं ॥ ९ ॥ ५८

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोर परयारं ।
दुग्गइ-गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥ १० ॥ ५९

(३) वीर्यानुप्रवाद (४) अस्ति-नास्ति प्रवाद (५) ज्ञान प्रवाद (६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्मप्रवाद (९) प्रत्याख्यानवाद (१०) विद्यानुवाद (११) कल्याणवाद (१२) प्राणवाद (१३) क्रियाविशाल, और (१४) लोक-बिन्दु सार। चूलिका में जल, स्थल, माया, रूप और आकाश गत नाना मंत्रों तंत्रों का विवरण था।

यह द्वादशांग आगम श्रुतज्ञान के रूप में गुरुशिष्य परम्परा से प्रचलित हुआ। किन्तु उस प्रकार वह चिरकाल तक सुरक्षित न रह सका। महावीर भगवान् के निर्वाण से १६५ वर्ष पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु तक तो पूरा श्रुत-ज्ञान बना रहा, किन्तु उसके पश्चात् बारहवें अंग दृष्टिवाद केज्ञान का ह्रास हुआ और फिर उसी क्रम से शेष अंगों का भी ज्ञान व्युच्छिन्न और त्रुटित हो गया। यहां तक कि निर्वाण से ६८३ वर्ष पश्चात् कुछ थोड़े से आचार्यों को ही इस श्रुतांग का खण्डशः ज्ञान अवशेष रहा। इन खण्डशः श्रुतांग धारियों की परम्परा में आचार्य धरसेन हुए जिन्होंने सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में रहते हुए अपनी आयु के अन्त में वह ज्ञान आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को प्रदान किया। इन आचार्यों ने उसी श्रुतज्ञान को कर्मप्राभृत अपरनाम षट्खंडागमसूत्र के रूप में भाषा-निबद्ध किया। यह ग्रंथ-रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण हुई थी। इसी कारण जैनी उस दिन अभी तक श्रुत पंचमी मनाते और श्रुत की पूजा करते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे श्रुतज्ञानी आचार्य गुणधर ने कषाय-प्राभृत ग्रंथ की रचना की। नवमीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम सूत्रों पर धवला नामक टीका लिखी और कषाय-प्राभृत पर वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन ने 'जयधवला' नामक टीका लिखी। ये टीकाएं 'मणिप्रवालन्याय' से अधिकांश प्राकृत में और कहीं कहीं संस्कृत में रची गई हैं। ये ही ग्रंथ दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में धवल सिद्धान्त और जयधवल सिद्धान्त के नाम से प्रख्यात हैं और सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं। षट्खंडागम का छठा खंड भूतबलि आचार्य कृत 'महाबन्ध' है और यही रचना महाधवल के नाम से विख्यात है। इन ग्रंथों—मूल व टीकाओं-की प्राकृत भाषा 'जैन शौरसेनी' कही जाती है।

यह है दिगम्बर परम्परा का संक्षिप्त विवरण। श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांग आगम का सर्वथा लोप नहीं हुआ। निर्वाण के पश्चात् अनेक बार आगम को सुव्यवस्थित करने के लिये मुनिसंघ की बैठकें हुई। अन्तिम बार निर्वाण से ९८० वर्ष पश्चात् विक्रम सं. ५१० में वलभी (गुजरात) में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में मुनिसंघ की बैठक हुई जिसमें संकलित ग्रंथों की नामावली देवर्धिगणि कृत नन्दीसूत्र में पाई जाती है। वर्तमान में उपलब्ध ४५ ग्रंथरूप आगम उससे भी अनेक बातों में भिन्न है। इनमें पूर्वोक्त प्रथम ग्यारह अंगों के अतिरिक्त १२ उपांग, १० प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र और २ चूलिका सूत्र हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

४—प्रोषधोपवास

उत्तम-मज्झ-जहण्णं तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं ।
सगसत्ति एयमासम्मि चउस्सु पव्वेसु कायव्वं ॥ २३ ॥ २८०
जह उक्कस्स तहा मज्झमवि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं ।
णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं ॥ २४ ॥ २९०
मुणिऊणं गुरु व कज्जं सावज्जं वज्जिऊण णिरारंभं ।
जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ॥ २५ ॥ २९१

५—सचित्तत्याग

जं वज्जिज्जं हरियं तु य पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं ।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्त-विणिवित्ति तं ठाणं ॥ २६ ॥ २९५

६—दिवा ब्रह्मचर्य व निशि भोजन

मण-वयण-कायकय-कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा ।
दिवसम्हि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥ २७ ॥ २९६
एयादसेसु पढमं वि जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स ।
ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तं परिहरे णियमा ॥ २८ ॥ ३१४
चम्मट्ठि-कीड-उंदुरु-भुयंग-केसाइं असणमज्झम्मि ।
पडियं ण किं पि पस्सइ भुंजइ सव्वं पि णिसिसमए ॥ २९ ॥ ३१५
एवं वहुप्पयारं दोसं णिसिभोयणम्मि णाऊण ।
तिविहेण राइभुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा ॥ ३० ॥ ३१८

७—ब्रह्मचर्य

पुवुत्त णवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो ।
इत्थिकहाइ णिवित्तो सत्तमगुणबंभयारी सो ॥ ३१ ॥ २९७

८—आरंभत्याग

जं किं चि गिहारंभं वहु थोगं वा समा विवज्जेई ।
आरंभणियट्टमई सो अट्ठम सावओ भणिओ ॥ ३२ ॥ २९८

---

* अन्य श्रावकाचार ग्रंथों में छठवीं प्रतिमा निशिभोजन त्याग की ही मानी गई है, किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ के कर्ता ने इस त्याग को प्रथम प्रतिमा से ही अनिवार्य बतलाया है।

९—परिग्रहत्याग

मोत्तूण वत्थमत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं ।
तत्थ वि मुच्छं ण करइ जाणइ सो सावओ णवमो ॥ ३३ ॥ २९९

१०—अनुमतित्याग

पुट्ठो वि य णियर्येहि य परेहि लोयेहिं सगिहकज्जम्मि ।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥ ३४ ॥ ३००

११—उद्दिष्टत्याग

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो ।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ ॥ ३५ ॥ ३०१
धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो ।
ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ॥ ३६ ॥ ३०२
भुंजइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सुई समुवइट्ठो ।
उववासं पुणं णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥ ३७ ॥ ३०३
एवं वीओ होई णवर विसेसो कुणिज्ज णियमेण ।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥ ३८ ॥ ३११

[वसुनन्दिकृत श्रावकाचार]

: ४ :

मुनि-धर्म [१]

संजमे सुट्ठियप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ॥ १ ॥
उद्देसियं कीयगडं नियागं अभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य गंध-मल्ले य वीयणे ॥ २ ॥
सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणं दन्त-पहोयणा य संपुच्छण-देह-पलोयणा य ॥ ३ ॥
अट्ठावए य नाली य छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए समारम्भं च जोइणो ॥ ४ ॥
सेज्जायर-पिंडं च आसन्दी पलियङ्कए ।
गिहन्तर-निसेज्जा य गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥
गिहिणो वेयावडियं जा य आजीव-वत्तिया ।
तत्तानिव्वुड-भोइत्तं आउर-स्सरणाणि य ॥ ६ ॥
मूलए सिंगवेरे य उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कन्दे मूले य सच्चित्ते फले बीए य आमए ॥ ७ ॥
सोवच्चले सिंधवे लोणे रोमा-लोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य कालालोणे य आमए ॥ ८ ॥
धूवणे त्ति वमणे य वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य गायाभंगविभूसणे ॥ ९ ॥
सव्वमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं लहुभूयविहारिणं ॥ १० ॥
पंचासव-परिन्नाया ति-गुत्ता छसु संजया ।
पंच-निग्गहणा धीरा निग्गंथा उज्जु-दंसिणो ॥ ११ ॥

आयावयंन्ति गिम्हेसु हेमन्तेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥
परीसह-रिऊ दन्ता धुयमोहा जिइन्दिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ॥ १३ ॥
दुक्कराइं करेत्ताणं दुस्सहाइं सहेत्तु य ।
के एत्थ देवलोगेसु केई सिज्झन्ति नीरया ॥ १४ ॥
खवित्ता पुव्व-कम्माइं संजमेण तवेण य ।
सिद्धि-मग्गमणुप्पत्ता ताइणो परिनिव्वुडा ॥ १५ ॥

[दशवैकालिक सूत्र—३]

समिति—५. १—ईर्या

इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ ।
पडिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥ १० ॥
फासुयमग्गेण दिवा जुवंतरप्पेहणा सकज्जेण ।
जंतूण परिहरंती इरियासमिदी हवे गमणं ॥ ११ ॥

२—भाषा

पेसुण्ण-हास-कक्कस-परणिदाप्पप्पसंसविकहादी ।
वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं ॥ १२ ॥

३—एषणा

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी ।
सीदादी समभुत्ती परिसुद्धा एसणा समिदी ॥ १३ ॥

४—आदान-निक्षेप

णाणुवहिं संजमुवहिं सौचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा ।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥ १४ ॥

५—प्रतिस्थापन

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥ १५ ॥

इंद्रियनिग्रह—५

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच ।
सग-सग-विसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥ १६ ॥

१—चक्षुनि०

सच्चित्ताचित्ताणं किरिया-संठाण-वण्णभेएसु ।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥ १७ ॥

२—श्रोत्रनि०

सज्जादिजीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे ।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ॥ १८ ॥

३—घ्राणनि०

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥ १९ ॥

४—जिह्वानि०

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे ।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ॥ २० ॥

५—स्पर्शनि०

जीवाजीवसमुत्ये कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे ।
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥ २१ ॥

आवश्यक—६

समदा थओ य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥ २२ ॥

१—समता

जीविद-मरणे लाहालाहे संजोय-विप्पओगे य ।
बंधुरि-सुह-दुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ॥ २३ ॥

२—स्तव

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ ॥ २४ ॥

३—वंदन

अरहंत-सिद्धपडिमा-तव-सुद-गुणगुरुगुरूण रादीणं ।
किदिकम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥ २५ ॥

४—प्रतिक्रमण

दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराह-सोहणयं ।
णिंदण-गरहणजुत्तो मण-वच-कायेण पडिकमणं ॥ २६ ॥

५—प्रत्याख्यान

णामादीणं छण्णं अजोग्गपरिवज्जणं तिकरणेण ।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥ २७ ॥

६—विसर्ग

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो ॥ २८ ॥

१—लौंच

वियं-तिय-चउक्कमासे लोचो उक्कस्स-मज्झिम-जहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥ २९ ॥

२—अचेलकत्व

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥ ३० ॥

३—अस्नान

ण्हाणादि-वज्जणेण य विलित्तजल्लमल्लसेदसव्वंगं ।
अण्हाणं घोरगुणं संजयदुगपालयं मुणिणो ॥ ३१ ॥

४—क्षितिशयन

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे ।
दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥ ३२ ॥

५—अदंतधावन

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं ।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ ३३ ॥

६—स्थिति-भोजन

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादिविवज्जणेण समपायं ।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥ ३४ ॥

७—एकभक्त

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥ ३५ ॥
एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण ।
होऊण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लहइ मोक्खं ॥ ३६ ॥

[वट्टकेरकृत मूलाचार

: ६ :

धर्मांग

उत्तमखम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्चं च संजमं चेव ।
तव-तागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहो धम्मो ॥ १ ॥ ७०

कोहुप्पत्तिस्स पुणो वहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं ।
ण कुणदि किंचि वि कोहं तस्स खमा होदि धम्मो त्ति ॥ २ ॥

कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु तव-सुद-सीलेसु गारवं किंचि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥ ३ ॥

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥ ४ ॥

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुइयो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥ ५ ॥

कंखा भावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वददि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सौचं ॥ ६ ॥

वद-समिदि-पालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥ ७ ॥

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसिज्झीए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥ ८ ॥

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे च्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥ ९ ॥

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥ १० ॥

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावम् ।
सो वम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥ ११ ॥ ८०

कुन्दकुन्दकृत बारस अनुवेक्खा
७०–८०

भा व ना

तिहुवणतिलयं देवं वंदित्ता तिहुअणिंदपरिपुज्जं ।
वोच्छं अणुपेहाओ भवियजणाणंदजणणीओ ॥ १ ॥
अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं ।
आसव संवर णामा णिज्जर लोयाणुपेहाओ ॥ २ ॥
इय जाणिऊण भावह दुल्लह धम्माणुभावणा णिच्चं ।
मण-वयण-कायसुद्धी एदा उद्देसदो भणिया ॥ ३ ॥

१ अध्रुव

जं किं पि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण ।
परिणामसरूवेण वि ण य किं पि वि सासयं अत्थि ॥ ४ ॥
जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं ।
लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥ ५ ॥
अथिरं परियण-सयणं पुत्तकलत्तं सुमित्त लावण्णं ।
गिह-गोहणाइ सव्वं णवघणविंदेण सारिच्छं ॥ ६ ॥
सुरधणुतडि व्व चवला इंदियविसया सुभिच्चवग्गा य ।
दिट्ठपणट्ठा सव्वे तुरय-गय-रहवरादीया ॥ ७ ॥
चइऊण महामोहं विसये सुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥ ८ ॥ २२

२ अशरण

तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसए विलओ ।
हरि-हर-बंभादीया कालेण कवलिया जत्थ ॥ ९ ॥ २३
सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि ।
तह मिच्चुणा य गहियं जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥ १० ॥ २४

अप्पाणं पि य सरणं खमादि-भावेहिं परिणदं होदि ।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥ ११ ॥ ३१

३ संसार

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो ।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं ॥ १२ ॥ ३२
एवं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स ।
सो संसारो भण्णदि मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स ॥ १३ ॥ ३३
इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण ।
तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेइ ॥ १४ ॥ ७३

४ एकत्व

इक्को जीवो जायदि इक्को गब्भम्मि गिण्हदे देहं ।
इक्को बाल-जुवाणो इक्को वुड्ढो जरागहिओ ॥ १५ ॥ ७४
इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे ।
इक्को मरदि वराओ णरयदुहं सहदि इक्को वि ॥ १६ ॥ ७५
सव्वायरेण जाणह इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं ।
जम्हि दु मुणिदे जीवे होइ असेसं खणे हेयं ॥ १७ ॥ ७९

५ अन्यत्व

अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो ।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥ १८ ॥ ८०
एवं बाहिरदव्वं जाणदि रूवा हु अप्पणो भिण्णं ।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव य रच्चदे मूढो ॥ १९ ॥ ८१
जो जाणिऊण देहं जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं ।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥ २० ॥ ८२

६ अशुचित्व

सयलकुहियाण पिंडं किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं ।
मलमुत्ताणं गेहं देहं जाणेह असुइमयं ॥ २१ ॥ ८३

सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरससुगंधं मणोहरं जं पि ।
देहणिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गंधं ॥ २२ ॥ ८४
जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्पसरूवि सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥ २३ ॥ ८७

७ आश्रव

मण-वयण-कायजोया जीवपयेसाण फंदणविसेसा ।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥ २४ ॥ ८८
कम्मं पुण्णं पावं हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु ॥ २५ ॥ ९०
सव्वत्थ वि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं ।
सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता ॥ २६ ॥ ९१
अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं ।
वेरधरणं च सुइरं तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥ २७ ॥ ९२
एदे मोहजभावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
हेयमिदि मण्णमाणो आसव-अणुपेहणं तस्स ॥ २८ ॥ ९४

८ संवर

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवरणामा जोगाभावो तह च्चेव ॥ २९ ॥ ९५
गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह परीसजओ ।
उक्किट्ठं चारित्तं संवरहेदू विसेसेण ॥ ३० ॥ ९६
एदे संवरहेदू वियारमाणो वि जो ण आयरइ ।
सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्ख-संतत्तो ॥ ३१ ॥ १००
जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदा वि संवरइ ।
मणहरविसयेहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥ ३२ ॥ १०१

९ निर्जरा

वारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥ ३३ ॥ १०२

सव्वेसिं कम्माणं सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण ॥ ३४ ॥ १०३
सा पुण दुविहा णेया सकालपत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया ॥ ३५ ॥ १०४
जो समसुक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं ।
इंदिय-कसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥ ३६ ॥ ११४

१० लोक

सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झि संठियो लोओ ।
सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहिं ॥ ३७ ॥ ११५
दंसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंतविहीणा विरायंति ॥ ३८ ॥ १२१
परिणामसहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि ।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं ॥ ३९ ॥ ११७
एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भावो ।
सो खविय कम्मपुंजं तस्सेव सिहामणी होदि ॥ ४० ॥ २८३

११ बोधदुर्लभ

जीवो अणंतकालं वसइ णिगोएसु आइपरिहीणो ।
तत्तो णीसरीऊणं पुढवीकायादियो होदि ॥ ४१ ॥ २८४
रयणु व्व जलहिपडियं मणुयत्तं तं पि होइ अइदुलहं ।
मणुअगईए झाणं मणुअगईए वि णिव्वाणं ॥ ४२ ॥ २९७।२९९
इय सव्वदुलहदुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं वि ॥ ४३ ॥ ३०१

१२ धर्म

जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुण-पज्जएहिं संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देओ ॥ ४४ ॥ ३०२
तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं ।
पढमो बारहभेओ दसभेओ भासिओ बिदिओ ॥ ४५ ॥ ३०४

जिणवयणभावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए ।
रइया अणुपेक्खाओ चंचलमणरुंभणट्ठं च ॥ ४६ ॥ ४८७

वारस अणुपेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥ ४७ ॥ ४८८

[स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

: ८ :

परीषह

परीसहाणं पविभत्ती कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

१ क्षुधा

दिगिंछापरिगए देहे तवस्सी भिक्खू थामवं ।
न छिंदे न छिंदावए न पए न पयावए ॥ २ ॥
कालीपव्वंग-संकासे किसे धमणिसंतए ।
मायन्ने असण-पाणस्स अदीण-मणसो चरे ॥ ३ ॥

२ तृषा

तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्जसंजए ।
सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे ॥ ४ ॥
छिन्नावएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्खमुहादीणे तं तितिक्खे परीसहं ॥ ५ ॥

३ शीत

चरंतं विरयं लूहं सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे सोच्चाणं जिणसासणं ॥ ६ ॥
न मे निवारणं अत्थि छवित्ताणं न विज्जई ।
अहं तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खू न चिंतए ॥ ७ ॥

४ उष्ण

उसिणं परियावेणं परिदाहेण तज्जिए ।
घिंसु वा परियावेणं सायं नो परिदेवए ॥ ८ ॥
उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं नो वि पत्थए ।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं ॥ ९ ॥

५. दंशमशक

पुट्ठो य दंसमसएहिं समरे व महामुणी ।
नागो संगामसीसे वा सूरो अभिहणे परं ॥ १० ॥
न संतसे न वारेज्जा मणं पि न पओसए ।
उवेहे न हणे पाणे भुंजन्ते मंससोणियं ॥ ११ ॥

६ अचैल

परिजुण्णेहि वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए ।
अदु वा सचेले होक्खामि इइ भिक्खू न चिन्तए ॥ १२ ॥
एगयाचेलए होइ सचेले आवि एगया ।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए ॥ १३ ॥

७ अरति

गामाणुगामं रीयन्तं अणगारं अकिंचणं ।
अरई अणुप्पवेसेज्जा तं तितिक्खे परीसहं ॥ १४ ॥
अरइं पिट्ठओ किच्चा विरए आयरक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे उवसन्ते मुणी चरे ॥ १५ ॥

८ स्त्री

संगो एस मणूसाणं जाओ लोगम्मि इत्थिओ ।
जस्स एया परिन्नाया सुकडं तस्स सामण्णं ॥ १६ ॥
एयमादाय मेहावी पंकभूया उ इत्थिओ ।
नो ताहिं विणिहम्मेज्जा चरेज्जत्तगवेसए ॥ १७ ॥

९ चर्या

एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वा वि निगमे वा रायहाणिए ॥ १८ ॥
असमाणे चरे भिक्खू नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्ते गिहत्थेहिं अणिएओ परिव्वए ॥ १९ ॥

१० निषद्या

सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं ॥ २० ॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥ २१ ॥

११ शय्या

उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं ।
नाइवेलं विहम्मेज्जा पावदिट्ठी विहम्मई ॥ २२ ॥
पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं कल्लाणमदु वा पावयं ।
किमेगराइं करिस्सइ एवं तत्थ ऽहियासए ॥ २३

१२ आक्रोश

अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले ॥ २४ ॥
सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गामकंटगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा न ताओ मणसीकरे ॥ २५ ॥

१३ वध

हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खू धम्मं समायरे ॥ २६ ॥
समणं संजयं दन्तं हणेज्जा कोइ कत्थई ।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति एवं पेहेज्ज संजए ॥ २७ ॥

१४ याचना

दुक्करं खलु भो निच्चं अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं ॥ २८ ॥
गोयरग्ग-पविट्ठस्स पाणी नो सुप्पसारए ।
सेओ अगारवासु त्ति इइ भिक्खू न चिन्तए ॥ २९ ॥

१५ अलाभ

परेसु घासमेसेज्जा भोयणे परिणिट्ठिए ।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा नाणुतप्पेज्ज पंडिए ॥ ३० ॥
अज्जेवाहं न लब्भामि अवि लाभो सुवे सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे अलाभो तं न तज्जए ॥ ३१ ॥

१६ रोग

नच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो भावए पन्नं पुट्ठो तत्थहियासए ॥ ३२ ॥
तेइच्छं नाभिनन्देज्जा संचिक्खत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं जं न कुज्जा न कारवे ॥ ३३ ॥

१७ तृणस्पर्श

अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स हुज्जा गायविराहणा ॥ ३४ ॥
आयवस्स निवाएण अउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवन्ति तन्तुजं तण-तज्जिया ॥ ३५ ॥

१८ मल

किलिन्नगाए मेहावी पंकेण व रएण वा ।
धिंसु वा परियावेण सायं नो परिदेवए ॥ ३६ ॥
वेएज्ज निज्जरापेही आरियं धम्मणुत्तरं ।
जाव सरीरभेउ त्ति जल्लं काएण धारए ॥ ३७ ॥

१९ सत्कार-पुरस्कार

अभिवायणमब्भुट्ठाणं सामी कुज्जा निमन्तणं ।
जे ताइं पडिसेवन्ति न तेसिं पीहए मुणी ॥ ३८ ॥
अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाएसी अलोलुए ।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा नाणुतप्पेज्ज पन्नवं ॥ ३९ ॥

२० प्रज्ञा

से नूणं मए पुव्वं कम्माणाणफला कडा ।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥ ४० ॥
अह पच्छा उइज्जन्ति कम्माणाणफला कडा ।
एवमस्सासि अप्पाणं नच्चा कम्मवि ागयं ॥ ४१ ॥

२१ अज्ञान

निरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसंवुडो ।
जो सक्खं नाभिजाणामि धम्मं कल्लाण-पावगं ॥ ४२ ॥

तवोवहाणमादाय पडिमं पडिवज्जओ ।
एवं पि विहरओ मे छउमं न नियट्टई ॥ ४३ ॥
नत्थि नूणं परे लोए इड्ढी वा वि तवस्सिणो ।
अदु वा वंचिओ मि त्ति इइ भिक्खू न चिन्तए ॥ ४४ ॥

२२ अदर्शन

अभू जिणा अत्थि जिणा अदु वा वि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु इइ भिक्खू न चिन्तए ॥ ४५ ॥
एए परीसहा सव्वे कासवेण निवेइया ।
जे भिक्खू न विहम्मेज्जा पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥ ४६ ॥

[उत्तराध्ययनसूत्र–२]

: ९ :

छह द्रव्य : सात तत्त्व : नव पदार्थ

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥

१ जीव

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥
तिक्काले चदु पाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ ३ ॥
उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥ ४ ॥
णाणं अट्ठ-वियप्पं मदि-सुद-ओही अणाण-णाणाणि ।
मणपंज्जय-केवलमवि पच्चक्ख-परोक्खभेयं च ॥ ५ ॥
अट्ठ-चदु णाण-दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥
वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ ७ ॥
पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥
पुढवि-जल-तेउ-वाऊ-वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विग-तिग-चदु-पंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥ ९ ॥ ११

२ अजीव

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥ १० ॥ १७

पुद्‌गल

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादावसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥ ११ ॥ १६

धर्म

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहकारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥ १२ ॥ १७

अधर्म

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥ १३ ॥ १८

आकाश

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥ १४ ॥ १९
धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये ।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ १५ ॥ २०

काल

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ १६ ॥ २१
लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ट्ठिया हु इक्केक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥ १७ ॥ २२
संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥ १८ ॥ २४
होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ १९ ॥ २५
एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥ २० ॥ २६
आसव-बंधण-संवर-णिज्जर-मोक्खा सपुण्ण-पावा जे ।

जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥ २१ ॥ २८

३ आस्रव

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ २२ ॥ २९

मिच्छत्ताविरदि-पमाद-जोग-कोहादओऽ थ विण्णेया ।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥ २३ ॥

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ २४ ॥ ३१

४ बंध

बज्झदि कम्मं जे ण दु चेदण भावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ २५ ॥ ३२

पयडि-ट्ठिदि-अणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडि पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति ॥ २६ ॥ ३३

५ संवर

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥ २७ ॥ ३४

वद-समिदी-गुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ २८ ॥ ३५

६ निर्जरा

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ २९ ॥ ३६

७ मोक्ष

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्म-पुधभावो ॥ ३० ॥ ३७

पुण्य पाप

सुह-असुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥ ३१ ॥ ३८

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ ३२ ॥ ३९

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयतु अण्णदवियम्हि ।
तम्हा तत्तिय मइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥ ३३ ॥ ४०

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥ ३४ ॥ ४१

संसय-विमोह-विब्भमविवज्जियं अप्प-परसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं सायारणेयभेयं च ॥ ३५ ॥ ४२

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥ ३६ ॥ ४५

[नेमिचंद्रकृत दव्वसंगहं]

कर्म-प्रकृति

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहाकमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवट्टई ॥ १ ॥
णाणस्सावरणिज्जं[1] च दंसणावरणं[2] तहा ।
वेयणिज्जं[3] तहा मोहं[4] आउकम्मं[5] तहेव च ॥ २ ॥
नाम कम्मं[6] च गोयं[7] च अंतरायं[8] तहे व य ।
एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥

१ ज्ञानावरण–५

णाणावरणं पंचविहं सुयं आहिणिबोहियं ।
ओहिणाणं च तइयं मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥
निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी उ पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥

२ दर्शनावरण–९

चक्खुमचक्खू ओहिस्स दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

३ वेदनीय–२

वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहू भेया एमेव असायस्स वि ॥ ७ ॥

४ मोहनीय–२५

मोहणिज्जं वि दुविहं दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ९ ॥

चारित्तमोहणं कम्मं दुविहं तं वियाहिअं ।
कसायमोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥
सोलसविहिभेएणं कम्मं तु कसायजं ।
सत्तविहं नवविहं वा कम्मं च नोकसायजं ॥ ११ ॥

५ आयु–४

नेरइय-तिरिक्खाउं मणुस्साउं तहेव य ।
देवाउयं चउत्थं तु आउं कम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥

६ नाम

नामं कम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं ।
सुमस्स उ बहू भेया एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥

७ गोत्र–२

गोयं कम्मं दुविहं उच्चं नीयं य आहियं ।
उच्चं अट्ठविहं होइ एवं नीयं वि आहियं ॥ १४ ॥

८ अंतराय–५

दाणे लाभे य भोगे य उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥
एयाओ मूलपयडीओ उत्तराओ य आहिया ।
एसग्गं खेत्तकाले य भावं उत्तरं सुण ॥ १६ ॥
सव्वेसिं चेव कम्माणं पएसग्गमणंतगं ।
गण्ठियसत्ताईयं अंतो सिद्धाण आहियं ॥ १७ ॥
सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥ १८ ॥
उदहीसरिसनामाण तीसई कोडिकोडिओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ १९ ॥
आवरणिज्जाण दुण्हं वि वेयणिज्जे तहेव य ।
अंतराए य कम्मम्मि ठिई एसा वियाहिया ॥ २० ॥
उदहीसरिसनामाण सत्तरिं कोडिकोडिओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ २१ ॥

तेत्तीससागरोवमा उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स अंतोमुहुत्त जहण्णिया ॥ २२ ॥
उदहीसरिसनामाण वीसई कोडिकोडिओ ।
नाम-गोत्ताणं उक्कोसा अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया ॥ २३ ॥
सिद्धाणणन्तभागो य अणुभागा हवंति उ ।
सव्वेसु वि पएसग्गं सव्वजीवे अइच्छियं ॥ २४ ॥
तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागा वियाणिया ।
एएसि संवरे चेव खवणे य जए बुहो ॥ २५ ॥

[उत्तराध्ययनसूत्र ३३]

: ११ :

गुणस्थान

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥ १ ॥ ८

मिच्छो[१] सासण[२] मिस्सो[३] अविरदसम्मो[४] य देसविरदो[५] य ।
विरदा पमत्त[६] इदरो[७] अपुव्व[८] अणियट्ट[९] सुहमो[१०] य ॥ २ ॥९

उवसंत[११] खीणमोहो[१२] सजोगकेवलिजिणो[१३] अजोगी[१४] य ।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ ३ ॥ १०

१ मिथ्यात्व

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ ४ ॥ १५

मिच्छंतं वेयंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ ५ ॥ १७

२ सासादन

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥ ६ ॥ २०

३ सम्यग्मिथ्यात्व

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतर-सव्वघादिकज्जेण ।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ ७ ॥ २१

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो ॥ ८ ॥ २२

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥ ९ ॥ २३

४ अविरत-सम्यक्त्व

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं ।
चल-मलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदू ॥ १० ॥ २५

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।
बिदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ ११ ॥ २६

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ १२ ॥ २७

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ १३ ॥ २९

५ देशविरत

जो तसवहाउ विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ १४ ॥ ३१

६ प्रमत्त-विरत

संजलण-णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥ १५ ॥ ३२

विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य ।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ॥ १६ ॥ ३४

७ अप्रमत्त

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥ १७ ॥ ४६

८ अपूर्व-करण

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ १८ ॥ ५०

एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं ।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥ १९ ॥ ५१

९ अनिवृत्ति-करण

एकम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तहा वि य परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥ २० ॥ ५६

होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्क-परिणामा ।
विमलयर-झाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढ-कम्मवणा ॥ २१ ॥ ५७

१० सूक्ष्म-साम्पराय

धुदकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहमरायसंजुत्तं ।
एवं सुहमकसाओ सुहमसरागो त्ति णादव्वो ॥ २२ ॥ ५९
अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहमसंपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥ २३ ॥ ६०

११ उपशांतमोह

कदक-फल-जुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि ॥ २४ ॥ ६१

१२ क्षीणमोह

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ २५ ॥ ६२

१३ सयोग-केवली

केवलणाणदिवायर-किरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम-सुजणिय-परमप्पववएसो ॥ २६ ॥ ६३
असहायणाण-दंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तो त्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ २७ ॥ ६४

१४ अयोग-केवली

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ २८ ॥ ६५

सिद्ध

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥ २९ ॥ ६८

[नेमिचंद्राचार्यकृत जीवकांड]

मार्गणा-स्थान

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ॥ १ ॥ १४०

गइ[१] इंदिएसु[२] काये[३] जोगे[४] वेदे[५] कसाय[६] णाणे[७] य ।
संजम[८] दंसण[९] लेस्सा[१०] भविया[११] सम्मत्त[१२] सण्णि[१३] आहारे[१४] ॥ २ ॥ १४१

१ गति

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्सहेउ वा हु गई ।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवगइ त्ति य हवे चदुधा ॥ ३ ॥ १४५

२ इंद्रिय

मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा ।
भाविंदियं तु दव्वं देहुदयजदेहचिण्हं तु ॥ ४ ॥ १६४

फासरसगंधरूवे सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं ।
इगिबितिचदुपंचिंदिय जीवा णियभेयभिण्णाओ ॥ ५ ॥ १६५

३ काय

जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ ।
सो जिणमदम्हि भणिओ पुढवीकायादि छब्भेयो ॥ ६ ॥ १८०

पुढवी-आऊ-तेऊ-वाऊ-कम्मोदयेण तत्थेव ।
णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा ॥ ७ ॥ १८१

विहि तिहि चदुहिं पंचहिं सहिया जे इंदिएहिं लोयम्हि ।
ते तसकाया जीवा णेया वीरोवदेसेण ॥ ८ ॥ १९७

४ योग

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मण-वयण-कायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ ९ ॥ २१५

मण-वयणाण पउत्ती सच्चासच्चुभय-अणुभयत्थेसु ।
तण्णामं होदि तदा तेहि दु जोगा हु तज्जोगा ॥ १० ॥ २१६

सब्भावमणो सच्चा जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसो त्ति ॥ ११ ॥ २१७

ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ॥ १२ ॥ २१८

दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसो त्ति ॥ १३ ॥ २१९

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो ।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ॥ १४ ॥ २२०

जणवदे[1]-सम्मदि[2]-ठवणा[3] णामे[4] रूवे[5] पडुच्च[6] ववहारे ।
संभावणे[8] य भावे[9] उवमाए[10] दसविहं सच्चं ॥ १५ ॥ २२१

भत्तं[1] देवी[2] चंदप्पहपडिमा[3] तह य होदि जिणदत्तो[4] ।
सेदो[5] दिग्घो[6] रज्झदि कूरो[7] त्ति य जं हवे वयणं ॥ १६ ॥ २२२

सक्को जंबूदीवं पल्लट्टदि[8] पाववज्जवयणं[9] च ।
पल्लोवमं[10] च कमसो जणवदसच्चादि दिट्ठंता ॥ १७ ॥ २२३

आमंतणी आणवणी याचणिया पुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमा य ॥ १८ ॥ २२४

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवंति भासाओ ।
सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तंससंजणया ॥ १९ ॥ २२५

ओरालिय-वेगुव्विय-आहारय-तेजणामकम्मुदये ।
चउ णोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं ॥ २० ॥ २४३

५ वेद

पुरिसित्थिसंढवेदोदयेण पुरिसित्थिसंढओ भावे ।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥ २१ ॥ २७०

६. कषाय

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरं तेण कसाओ त्ति णं बेंति ॥ २२ ॥ २८१
सिल-पुढविभेद-धूली-जलराइसमाणओ हवे कोहो ।
णारय-तिरिय-णरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २३ ॥ २८३
सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो ।
णारय-तिरिय-णरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २४ ॥ २८४
वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।
सरिसी माया णारय तिरिय-णरामरगईसु खिवदि जियं ॥ २५ ॥ २
किमिराय-चक्क-तणुमल-हरिद्दराएण सरिसओ लोहो ।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो ॥ २६ ॥ २८६
णारय-तिरिक्ख-णर-सुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि ।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ॥ २७ ॥ २८७

७ ज्ञान

पंचेव होंति णाणा मदि-सुद-ओही-मणं च केवलयं ।
खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं ॥ २८ ॥ २९९
अहिमुह-णियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।
अवगह-ईहावाया धारणगा होंति पत्तेयं ॥ २९ ॥ ३०५
विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा ।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा ॥ ३० ॥ ३०७
ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु ।
कालंतरे वि णिण्णिदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं ॥ ३१ ॥ ३
अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं ।
आभिणिबोहिय पुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥ ३२ ॥ ३१
अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणे त्ति वण्णियं समये ।
भवगुणपच्चय विहियं जमोहिणाणेति णं बेंति ॥ ३३ ॥ ३६
चिंतियमचिंतियं वा अद्धंचिंतियमणेयभेयगयं ।

मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए ॥ ३४ ॥ ४३७
संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त-सव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ॥ ३५ ॥ ४५९

८ संयम

वद-समिदि-कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जओ संजमो भणिओ ॥ ३६ ॥ ४६४

९ दर्शन

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कटटुमायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥ ३७ ॥ ४८१
चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं बेंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खू त्ति ॥ ३८ ॥ ४८३
परमाणु-आदियाइं अंतिमखंध त्ति मुत्तिदव्वाइं ।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥ ३९ ॥ ४८४
बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥ ४० ॥ ४८५

१० लेश्या

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवो त्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ ४१ ॥ ४८८
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥ ४२ ॥ ४८९
किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्क लेस्सा य ।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥ ४३ ॥ ४९२
तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।
मंदतरा मंदतमा छट्ठाणगया हु पत्तेयं ॥ ४४ ॥ ४९९
पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्ठा रण्णमज्झदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥ ४५ ॥ ५०६
णिम्मूल-खंध-साहुवसाहं छित्तुं चिणित्त पडिदाइं ।
खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥ ४६ ॥ ५०७

चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्म-दयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥ ४७ ॥ ५०८

मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य ।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥ ४८ ॥ ५१०

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥ ४९ ॥ ५१

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।
दय-दाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥ ५० ॥ ५१४

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।
साहु-गुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ ५१ ॥ ५१५

ण य कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
णत्थि य रायद्दोसा णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स ॥ ५२ ॥ ५१६

११ भव्यत्व

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।
तव्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥ ५३ ॥ ५५६

१२ सम्यक्त्व

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५४ ॥ ५६०

खीणे दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई ।
तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मखवणहेदू ॥ ५५ ॥ ६४५

दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।
चलमलिनमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे ॥ ५६ ॥ ६४८

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं ॥ ५७ ॥ ६४९

ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो य परिवडिदो ।
सो सासणो त्ति णेयो पंचमभावेण संजुत्तो ॥ ५८ ॥ ६५३

सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु ।
विरयाविरयेण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥ ५९ ॥ ६५४

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ ६० ॥ ६५५

१३ संज्ञा

णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा ।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो ॥ ६१ ॥ ६५९
सिक्खा-किरियुवेदसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी दु ॥ ६२ ॥ ६६०
मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।
सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ॥ ६३ ॥ ६६१

१४ आहार

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं ।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥ ६४ ॥ ६६३
विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥ ६५ ॥ ६६५

[नेमिचंद्राचार्यकृत जीवकांड]

: १३ :

ध्या न

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।
जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥ १ ॥ १६८१

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीस हरिऊणं ।
जायइ अलंघणिज्जो झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥ २ ॥ ८२

जिदरागो जिददोसो जर्दिदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
रदि-अरदि-मोह-महणो झाणोवगओ सदा होइ ॥ ३ ॥ ९८

धम्मं चउप्पयारं सुक्कं च चदुव्विधं किलेसहरं ।
संसार-दुक्ख-भीओ दुण्णि वि झाणाणि सो झादि ॥ ४ ॥ ९९

अशुभध्यान

ण परीसहेहिं संताविओ वि झाइ अट्ट-रुद्दाणि ।
सुट्ठुवहाणे सुद्धं पि अट्ट-रुद्दा विणासंति ॥ ५ ॥ १७००

१ आर्तध्यान

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा ।
ते सव्वे परियाणइ संथारगओ तओ खवओ ॥ ६ ॥ १

अमणुण्णसंपओगे इट्ठविओए परीसह-णिदाणे ।
अट्टं कसाय-सहियं झाणं भणियं समासेण ॥ ७ ॥ २

२ रौद्रध्यान

तेणिक्क-मोस-सार-क्खणेसु तह चेव छव्विधारंभे ।
रुद्दं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥ ८ ॥ ३

अवहट्ट अट्ट-रुद्दे महाभए सुग्गदीए पच्चूहे ।
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागद-मदीओ ॥ ९ ॥ ४

शुभध्यान

इंदिय-कसाय-जोग-णिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ।
चित्तस्स य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥ १० ॥ ५
किं चि वि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्ध-दिट्ठीओ ।
अप्पाणं हि सदिं सद्धित्ता संसारमोक्खट्ठं ॥ ११ ॥ ६
पच्चाहरित्तु विसएहिं इंदियाइं मणं च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि ॥ १२ ॥ ७

३ धर्मध्यान

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ।
आणापाय-विवाग-विचयं संठाण-विचयं च ॥ १३ ॥ ८
धम्मस्स लक्खणं से अज्जव लहुगत्त-मद्दवोवसमो ।
सुत्तस्सुवदेसेण णिसग्गओ अत्थरुचिगो से ॥ १४ ॥ ९
आलंबणं च वायण-पुच्छण-परिवट्टणाणुवेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥ १५ ॥ १०
पंचेव अत्थिकाया छज्जीव-णिकाये दव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥ १६ ॥ ११
कल्लाणपावगाणोपाए विचिणादि जिणमदमुवेज्ज ।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥ १७ ॥ १२
एयाणेय-भवगदं जीवाणं पुण्ण-पावकम्मफलं ।
उदओदीरण-संकम-बंधे मोक्खे य विचिणादि ॥ १८ ॥ १३
अह तिरिय-उड्ढलोए विचिणादि सपज्जए संसंठाणे ।
इत्थेव अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥ १९ ॥ १४
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसार-लोयमसुइत्तं ।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥ २० ॥ १५

४ शुक्लध्यान

इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्धलेसाओ । २१ ॥ १८७५

झाणं पुधत्त-सवियक्क-सवीचारं हवे पढमसुक्कं ।
सवियक्केगत्तावीचारं झाणं विदियसुक्कं ॥ २२ ॥ ७६
सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहि पण्णत्तं ।
विंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥ २३ ॥ ७७
दव्वाणि अणेयाइं तीहि वि जोगेहि जेण झायंति ।
उवसंत-मोहणिज्जा तेण पुधत्तं ति तं भणियं ॥ २४ ॥ ७८
जम्हा सुदं वियक्कं जम्हा पुव्वगद-अत्थकुसलो य ।
झायदि झाणं एदं सविदक्कं तेण तं झाणं ॥ २५ ॥ ७९
अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ।
तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीयारं ॥ २६ ॥ १८८०
जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।
खीणकसाओ झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥ २७ ॥ ८१
जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगद-अत्थकुसलो य ।
झायदि झाणं एयं सवितक्कं तेण तं झाणं ॥ २८ ॥ ८२
अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ।
तस्स अभावेण तयं झाणं अविचारमिदि वुत्तं ॥ २९ ॥ ८३
अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं ।
सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं ॥ ३० ॥ ८४
अवितक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ।
झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥ ३१ ॥ ८६
तं पुण णिरुद्धजोगो सरीर-तिय-णासणं करेमाणो ।
सव्वण्हु अपडिवादि झायदि झाणं चरिमसुक्कं ॥ ३२ ॥ ८७
एवं कसाय-जुद्धम्मि होइ खवयस्स आउहं झाणं ।
झाणविहूणो खवओ रंगे व अणाउहो मल्लो ॥ ३३ ॥ ९०
रणभूमीए कवचं व कसायरणे तह हवे कवयं ।
जुद्धे व णिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥ ३४ ॥ १८९१

[शिवार्यकृत भगवती-आराधना

: १४ :

स्याद्वाद

जीवादिदव्वणिवहा जे भणिया विविहभावसंजुत्ता ।
ताण पयासणहेऊ पमाण-णयलक्खणं भणियं ॥ १ ॥
सव्वाण सहावाणं अत्थित्तं पुण सुपरमसब्भावं ।
अत्थिसहावा सव्वे अत्थित्तं सव्वभावगयं ॥ २ ॥
इदि तं पमाणविसयं सत्तारूवं खु जं हवे दव्वं ।
णयविसयं तस्संसं सियभणिदं तं पि पुव्वुत्तं ॥ ३ ॥
सामण्ण अह विसेसं दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो ।
साहइ तं सम्मत्तं ण हु पुण तं तस्स विवरीयं ॥ ४ ॥
सियसावेक्खा सम्मा मिच्छारूवा हु तेहि णिव्वेक्खा ।
तम्हा सियसद्दादो विसयं दोण्हं पि णायव्वं ॥ ५ ॥
अवरोप्पर सावेक्खं णयविसयं अह पमाणविसयं वा ।
तं सावेक्खं तत्तं णिरवेक्खं ताण विवरीयं ॥ ६ ॥
णियम-णिसेहणसीलो णिवादणादो य जो हु खलु सिद्धो ।
सो सियसद्दो भणियो जो सावेक्खं पसाहेदि ॥ ७ ॥
सत्तेव हुंति भंगा पमाण-णय-दुणयभेदजुत्ता वि ।
सियसावेक्ख पमाणा णयेण णय दुणय णिरवेक्खा ॥ ८ ॥
अत्थि त्ति णत्थि दो वि य अव्वत्तव्वं सियेण संजुत्तं ।
अव्वत्तव्वा ते तह पमाणभंगीसु णायव्वा ॥ ९ ॥
अत्थिसहावं दव्वं सद्दव्वादीसु गाहयणयेण ।
तं पि य णत्थिसहावं परदव्वादीहि गहिएण ॥ १० ॥
उहयं उहयणएणं अव्वत्तव्वं च जाण समुदाए ।
ते तिय अव्वत्तव्वा णियाणियणय अत्थसंजोए ॥ ११ ॥

अत्थि त्ति णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं तहेव पुण तिदयं ।
तह सिय णयणिरवेक्खं जाणदु दव्वे दुणयभंगी ॥ १२ ॥
एक्कणिरुद्धे इयरो पडिवक्खो अणवरेइ सब्भावो ।
सव्वेसिं च सहावे कायव्वा होइ तह भंगी ॥ १३ ॥
धम्मी धम्मसहावो धम्मा पुण एक्कएक्क तण्णिट्ठा ।
अवरोप्परं विभिण्णा णायव्वा गउण-मुक्खभावेण ॥ १४ ॥
सियजुत्तो णयणिवहो दव्वसहावं भणेइ इह तत्थं ।
सुणयपमाणा जुत्ती ण हु जुत्तिविवज्जियं तच्चं ॥ १५ ॥
तच्चं पि हेयमियरं हेयं खलु भणिय ताण परदव्वं ।
णियदव्वं पि य जाणसु हेयादेयं च णयजोगे ॥ १६ ॥
मिच्छा सरागभूयो हेयो आदा हवेइ णियमेण ।
तव्विवरीयो झेओ णायव्वो सिद्धिकामेण ॥ १७ ॥
जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स ।
सो ववहारो भणियो विवरीओ णिच्छयो होदि ॥ १८ ॥
एक्को वि झेयरूवो इयरो ववहारदो य तह भणियो ।
णिच्छयणएण सिद्धो सम्मगुतिदयेण णिय अप्पा ॥ १९ ॥
तिण्णि णया भूदत्था इयरा ववहारदो य तह भणिया ।
दो चेव सुद्धरूवा एको गाही परमभावेण ॥ २० ॥
जं जस्स भणिय भावं तं तस्स पहाणदो य तं दव्वं ।
तम्हा झेयं भणियं जं विसयं परमगाहिस्स ॥ २१ ॥
तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण ।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा ॥ २२ ॥
एयंते णिरवेक्खे णो सिज्झइ विविहभावगं दव्वं ।
तं तह व अणेयंता इदि बुज्झह सिय अणेयंतं ॥ २३ ॥

[देवसेनकृत नयचक्र २४५–२६७]

नय-वाद

वीरं विसयविरत्तं विगयमलं विमलणाणसंजुत्तं ।
पणविवि वीरजिणिंदं पच्छा णय-लक्खणं वोच्छं ॥ १ ॥

नय-लक्षण

जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुयंससंगहणं ।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहिं ॥ २ ॥
जम्हा ण णएण विणा होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती ।
तम्हा सो बोहव्वो एयंतं हंतुकामेण ॥ ३ ॥
धम्मविहीणो सोक्खं तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो ।
तह इह वंछइ मूढो णयरहिओ दव्वणिच्छित्ती ॥ ४ ॥ ६
दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थ-पज्जयत्थ-गया ।
अण्णं असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥ ५ ॥ ११
णेगम संगह ववहार तह य रिउसुत्त सद्द अभिरूढा ।
एवंभूयो णवविह णया वि तह उवणया तिण्णि ॥ ६ ॥ १२
दव्वत्थं दहभेयं छब्भेयं पज्जयत्थियं णेयं ।
तिविहं च णेगमं तह दुविहं पुण संगहं तत्थ ॥ ७ ॥ १३
ववहारं रिउसुत्तं दुवियप्पं सेसमाहु एक्केक्का ।
उत्ता इह णयभेया उवणयभेया वि पभणामो ॥ ८ ॥ १४
सब्भूयमसब्भूयं उवयरियं चेव दुविह सब्भूयं ।
तिविहं पि असब्भूयं उवयरियं जाण तिविहं पि ॥ ९ ॥ १५
दव्वत्थिए य दव्वं पज्जायं पज्जवत्थिए विसयं ।
सब्भूयासब्भूए उवयरिए च दु-णव-तियत्था ॥ १० ॥ १६
पज्जय गउणं किच्चा दव्वं पि य जो हु गिण्हए लोए ।
सो दव्वत्थो भणिओ विवरीओ पज्जयत्थो दु ॥ ११ ॥ १७

द्रव्यार्थिक—१०

कम्माणं मज्झगयं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं।
१ भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥ १२ ॥ १८
उप्पाद-वयं गोणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता।
२ भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तग्गाहओ समए ॥ १३ ॥ १९
गुण-गुणियाइचउक्के अत्थे जो णो करेइ खलु भेयं।
३ सुद्धो सो दव्वत्थो भेदवियप्पेण णिरवेक्खो ॥ १४ ॥ २०
भावेसु राययादी सव्वे जीवम्मि जो दु जंपेदि।
४ सो हु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहिसावेक्खो ॥ १५ ॥ २१
५ उप्पाद-वयविमिस्सा सत्ता गहिऊण भणइ तिदयत्तं।
दव्वस्स एयसमये जो हु असुद्धो हवे विदिओ ॥ १६ ॥ २२
भेदे सदि संबंधं गुण-गुणियाईण कुणइ जो दव्वे।
६ सो वि असुद्धो दिट्ठो सहिओ सो भेदकप्पेण ॥ १७ ॥ २३
णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण दव्व दव्वेदि।
७ दव्वठवणो हि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिओ ॥ १८ ॥ २४
८ सद्दव्वादिचउक्के संतं दव्वं खु गिण्हए जो हु।
९ णियदव्वादिसु गाही सो इयरो होइ विवरीयो ॥ १९ ॥ २५
गिण्हइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोपचारपरिचत्तं।
१० सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥ २० ॥ २६

पर्यायार्थिक—६

अकट्टिया अणिहणा ससिसूराईण पज्जया गिण्हइ।
१ जो सो अणाइ-णिच्चो जिणभणिओ पज्जयत्थिणओ ॥ २१ ॥ २[७]
कम्मक्खयादु पत्तो अविणासी जो हु कारणाभावे।
२ इदमेवमुच्चरंतो भण्णइ सो साइणिच्च णओ । २२ ॥ २८
सत्ता अमुक्खरूवे उप्पादवयं हि गिण्हए जो हु।
३ सो दु सहाव अणिच्चो भण्णइ खलु सुद्धपज्जायो ॥ २३ ॥ २[९]

जो गहइ एकसमए उप्पाय-वय-द्धुवत्तसंजुत्तं ।
४ सो सब्भाव अणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थीओ ॥ २४ ॥ ३०
देहीणं पज्जाया सुद्धा सिद्धाण भणइ सारिच्छा ।
५ जो इह अणिच्चसुद्धो पज्जयगाही हवे स णओ ॥ २५ ॥ ३१
भणइ अणिच्चासुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जो हु ।
६ होइ विभाव-अणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ ॥ २६ ॥ ३२

१ नैगम

णिव्वित्त-दव्व-किरिया वट्टणकाले दु जं समाचरणं ।
तं भूयणइगमणयं जह अड णिव्वइदिणं वीरे ॥ २७ ॥ ३३
पारद्धा जा किरिया पयण-विहाणादि कहइ जो सिद्धा ।
लोए य पुच्छमाणे तं भण्णइ वट्टमाण-णयं ॥ २८ ॥ ३४
णिप्पण्णमिव पयंपदि भाविपयत्थं णरो अणिप्पण्णं ।
अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भावि णइगमो त्ति णओ ॥ २९ ॥ ३५

२ संग्रह

अवरे परमविरोहे सव्वं अत्थि त्ति सुद्धसंगहणो ।
होइ तमेव असुद्धो इगजाइविसेसगहणेण ॥ ३० ॥ ३६

३ व्यवहार

जं संगहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा ।
सो ववहारो दुविहो असुद्ध-सुद्धत्थ भेयकरो ॥ ३१ ॥ ३७

४ ऋजसूत्र

जो एयसमयवट्टी गिण्हइ दव्वे धुवत्तपज्जाओ ।
सो रिउसुत्तो सुहुमो सव्वं पि सदं जहा खणियं ॥ ३२ ॥ ३८
मणुवाइयपज्जाओ मणुसुत्ति सगट्ठिदीसु वट्टंतो ।
जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥ ३३ ॥ ३९
जो वट्टणं च मण्णइ एयट्ठे भिण्णलिंगमाईणं ।
सो सद्दणओ भणिओ णेओ पुस्साइयाण जहा ॥ ३४ ॥ ४०

५ शब्द

अहवा सिद्धे सद्दे कीरइ जं किं पि अत्थववहरणं ।
तं खलु सद्दे विसयं देवो सद्देण जह देवो ॥ ३५ ॥ ४१

६ समभिरूढ

सद्दारूढो अत्थो अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो ।
भणइ इह **समभिरूढो** जह इंद पुरंदरो सक्के ॥ ३६ ॥ ४२

७ एवंभूत

जं जं करेइ कम्मं देही मण-वयण-कायचिट्ठाहिं ।
तं तं खु णामजुत्तो **एवंभूओ** हवे स णओ ॥ ३७ ॥ ४३
पढमतिया दव्वत्थी पज्जयगाही य इयर जे भणिया ।
ते चदु अत्थपहाणा सद्दपहाणा हु तिण्णियरा ॥ ३८ ॥ ४४

१ सद्भूत उपनय

गुण-गुणि-पज्जय-दव्वे कारयसब्भावदो य दव्वेसु ।
सण्णाईहि य भेयं कुण्णइ सब्भूयसुद्धियरो ॥ ३९ ॥ ४६

२ असद्भूत उपनय

अण्णेसिं अत्तगुणा भणइ असब्भूय तिविहभेदे वि ।
सज्जाइ-इयर-मिस्सो णायव्वो तिविहमेदजुदो ॥ ४० ॥ ५०
दट्ठूणं पडिबिंबं भवदि हु तं चेव एस पज्जाओ ।
सज्जाइ-असब्भूओ उवयरिओ णिययजातिपज्जाओ ॥ ४१ ॥ ५६
एइंदियादिदेहा णिच्चत्ता जे वि पोग्गले काये ।
ते जो भणेइ जीवो ववहारो सो **विजातीओ** ॥ ४२ ॥ ५३
णेयं जीवमजीवं तं पि य णाणं खु तस्स विसयादो ।
जो भणइ एरिसत्थं **ववहारो** सो असब्भूदो ॥ ४३ ॥ ५७

३ उपचरित-उपनय

उवयारा उवयारं सच्चासच्चेसु उहयअत्थेसु ।
सज्जाइ-इयर-**मिस्सो** उवयरिओ कुणइ ववहारो ॥ ४४ ॥ ७१

पुत्ताइवंधुवग्गं अहं च मम संपयाइ जंपंतो ।
उवयारासब्भूओ सजाइदव्वेसु णायव्वो ॥ ४५ ॥ ७३
आहरण-हेम-रयणं वत्थादीया मम त्ति जंपंतो ।
उवयार-असब्भूओ विजादिदव्वेसु णायव्वो ॥ ४६ ॥ ७४
देसं च रज्ज-दुग्गं एवं जो चेव भणइ मम सव्वं ।
उहयत्थे उवयरिओ होइ असब्भूयववहारो ॥ ४७ ॥ ७५
एयंते णिरवेक्खे णो सिज्झइ विविह-भावगं दव्वं ।
तं तह वयणेयंते इदि वुज्झह सिय अणेयंतं ॥ ४८ ॥ ७६
जह रससिद्धो वाई हेमं काऊण भुंजये भोगं ।
तह णयसिद्धो जोई अप्पा अणुहवउ अणवरयं ॥ ४९ ॥ ७७

[देवसेनकृत लघुनयचक्र

: १६ :

निक्षेप

जुत्तीसुजुत्तिमग्गे जं चउभेयेण होइ खलु ठवणं ।
कज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये ॥ १ ॥
दव्वं विविहसहावं जेण सहावेण होइ जं झेयं ।
तस्स णिमित्तं कीरइ एक्कं वि य दव्व चउभेयं ॥ २ ॥
णाम ट्ठवणा दव्वं भावं तह जाण होइ णिक्खेवं ।
दव्वे सण्णा णामं दुविहं पि य तं पि विक्खायं ॥ ३ ॥

१ नाम

मोह-रज-अंतराये हणणगुणादो य णाम अरिहंतो ।
अरिहो पूजाए वा सेसा णामं हवे अण्णं ॥ ४ ॥

२ स्थापना

सायार इयर ठवणा कित्तिम इयरा दु बिंबजा पढमा ।
इयरा इयरा भणिया ठवणा अरिहो य णायव्वो ॥ ५ ॥

३ द्रव्य

दव्वं खु होइ दुविहं आगम-णोआगमेण जह भणियं ।
अरहंत-सत्थ-जाणो अणजुत्तो दव्व-अरिहंतो ॥ ६ ॥
णोआगमं पि तिविहं देहं णाणिस्स भावि कम्मं च ।
णाणिसरीरं तिविहं चुद चत्तं चाविदं चेति ॥ ७ ॥

४ भाव

आगम-णोआगमदो तहेव भावो वि होदि दव्वं वा ।
अरहंत-सत्थ-जाणो आगम-भावो दु अरहंतो ॥ ८ ॥
तग्गुणए य परिणदो णोआगम-भाव होइ अरहंतो ।
तग्गुणएई झादा केवलणाणी हु परिणदो भणिओ ॥ ९ ॥

अह गुण-पज्जयवंतं दव्वं भणियं खु अण्णसूरीहिं ।
भावं तिण्हं तस्स य तेहिं पि य एरिसं भणियं ॥ १० ॥
णो इट्ठं भणियव्वं भिण्णं काऊण एसु णिक्खेवं ।
तस्सेव दंसणट्ठं भणियं काऊणमिह सुत्तं ॥ ११ ॥
सद्देसु जाण णामं तहेव ठवणा हु थूलरिउसुत्ते ।
दव्वं पि य उवयारे भावं पज्जायमज्झगयं ॥ १२ ॥
णिक्खेव-णय-पमाणं णादूणं भावयंति जे तच्चं ।
ते तत्थतच्चमग्गे लहंति लग्गा हु तत्थयं तच्चं ॥ १३ ॥
गुण-पज्जयाण लक्खण सहाव णिक्खेव णय पमाणं वा ।
जाणदि जदि सवियप्पं दव्व-सहावं खु बुज्झेदि ॥ १४ ॥

[देवसेनकृत नयचक्र २६९-२८२]

तत्त्व-समुच्चय

[हिन्दी अनुवाद]

मंगलाचरण

अर्हन्तोंको नमस्कार।
सिद्धोंको नमस्कार।
आचार्योंको नमस्कार।
उपाध्यायोंको नमस्कार।
लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार ॥१॥

यह पंचनमस्कार सर्व पापोंका प्रणाशक है,
और समस्त मंगलोंका प्रथम मंगल है ॥ २ ॥

चार मंगल हैं।
अर्हन्त मंगल हैं।
सिद्ध मंगल हैं।
साधु मंगल हैं।
केवलि-प्रणीत धर्म मंगल है ॥ ३ ॥

चार लोकोत्तम हैं।
अर्हन्त लोकोत्तम हैं।
सिद्ध लोकोत्तम हैं।
साधु लोकोत्तम हैं।
केवलि-प्रणीत धर्म लोकोत्तम है ॥ ४ ॥

चारकी शरण जाता हूँ ।

अर्हन्तोंकी शरण जाता हूँ ।

सिद्धोंकी शरण जाता हूँ ।

साधुओंकी शरण जाता हूँ ।

केवलि-प्रणीत धर्मकी शरण जाता हूँ । ॥ ५ ॥

: १ :

लोक-स्वरूप

भव्यजनोंको आनन्दित करनेवाले 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' शास्त्रको मैं अतिशय भक्तिसे प्रसन्न किये गये श्रेष्ठ गुरुके चरणोंके प्रभावसे कहता हूँ ॥१॥

अनन्तानन्त अलोकाकाशके ठीक मध्यमें यह लोकाकाश जीवादि पाँच द्रव्योंसे भरा हुआ और जगश्रेणिके घन-प्रमाण है ॥२॥

यह लोक आदि और अन्तसे रहित है, प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुआ है, जीव एवं अजीव द्रव्योंसे समृद्ध है और इसे सर्वज्ञ भगवानने देखा है ॥३॥

जितने आकाशमें धर्म और अधर्म द्रव्यके निमित्तसे होनेवाली जीव और पुद्गलोंकी गति एवं स्थिति हो, उसे लोकाकाश समझना चाहिये ॥४॥

लोक—३

इनमेंसे अधोलोकका आकार स्वभावसे वेत्रासनके सदृश, और मध्य-लोकका आकार खड़े किए हुए मृदंगके अर्ध-भागके समान है ॥५॥

ऊर्ध्वलोकका आकार खड़े किये हुए मृदंगके सदृश है। अब इन तीनों लोकोंके संस्थानको कहते हैं ॥६॥

अधोलोककी ऊँचाई क्रमसे सात राजू, मध्यलोककी ऊँचाई एक लाख योजन और उर्ध्वलोक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू है ॥७॥

नरक—७

इन तीनों लोकोंमेंसे अर्धमृदंगाकार अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा, ये सात पृथिवियाँ एक एक राजूके अन्तरालसे हैं ॥ ८ ॥

घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी, ये उपर्युक्त पृथिवियोंके गोत्रनाम हैं। ॥ ९ ॥

सब पृथिवियोंमें नारकियों के बिल चौरासी लाख हैं। अब प्रत्येक पृथिवीका आश्रय करके उन बिलोंके प्रमाणका निरूपण करते हैं। ॥ १० ॥

रत्नप्रभा आदिक पृथिवियोंमें क्रमसे तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और केवल पाँच ही नारकियोंके बिल हैं ॥ ११ ॥

जो मद्य पीते हैं, मांसके लालसी हैं, जीवोंका घात करते हैं, और मृगयामें तृप्त होते हैं, वे क्षणमात्रके सुखके लिये पाप उत्पन्न करते हैं और नरकमें अनन्त दुख पाते हैं ॥ १२ ॥

जो जीव लोभ, क्रोध, भय, अथवा मोहके कारण असत्य वचन बोलते हैं, वे निरंतर भयको उत्पन्न करनेवाले, महान् कष्टकारक, और अत्यंत भयानक नरकमें पड़ते हैं ॥ १३ ॥

ज्योतिषीदेव—५

चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे, इस प्रकार ज्योतिषी देवोंके पाँच समूह हैं। ये ज्योतिषी देव लोक के अन्तमें घनोदधि वातवलयको छूते हैं। ॥ १४ ॥

नक्षत्र—२८

एक एक चन्द्रके अट्ठाईस नक्षत्र होते हैं। यहां क्रमसे उनके नामों को कहते हैं ॥ १५ ॥

कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्षा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा-फाल्गुनी, उत्तरा-फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्व-भाद्रपदा, उत्तर-भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और भरणी ये उन नक्षत्रोंके नाम हैं ॥ १६-१८ ॥

स्वर्ग—१२

कोई आचार्य बारह कल्प और कोई सोलह कल्प बतलाते हैं। कल्पातीत पटल तीन प्रकार कहे गये हैं ॥ १९ ॥

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतव, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, इस प्रकार ये बारह कल्प हैं। ॥२०॥

स्वर्ग—१६

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत नामक, इस प्रकार कोई आचार्य सोलह कल्प मानते हैं ॥२१—२२॥

ग्रैवेयक—९

कल्पातीतोंमें अधस्तन-अधस्तन अधस्तन-मध्यम, अधस्तन-उपरिम, मध्यम अधस्तन, मध्यम-मध्यम, मध्यम-उपरिम, उपरिम-अधस्तन, उपरिम-मध्यम और उपरिम-उपरिम, ये नौ ग्रैवेयक विमान हैं ॥२३-२४॥

सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रकके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशामें क्रमशः विजयंत, वैजयंत, जयंत और अपराजित नामक विमान हैं ॥२५॥

मनुष्यलोक प्रमाण स्थित तनुवातके उपरिम भागमें सब सिद्धोंके सिर सदृश होते हैं, किन्तु अधस्तन भागमें कोई विसदृश भी होते हैं ॥२६॥

जितना मार्ग जाने योग्य है उतना जाकर लोकशिखर पर सब सिद्ध पृथक् पृथक् चावलसे रहित मुपके अभ्यन्तर आकाशके सदृश स्थित होते जाते हैं ॥२७॥

शुद्धोपयोगसे उत्पन्न अर्हन्त और सिद्ध जीवोंको अतिशय, आत्मोत्थ, विषयातीत, अनुपम, अनन्त, और विच्छेद रहित सुख प्राप्त होता है ॥२८॥

जम्बूद्वीप

मनुष्य-क्षेत्रके ठीक बीचमें एक लाख योजन विस्तारवाला सदृश गोल और जम्बूद्वीप नामसे प्रसिद्ध द्वीप है ॥२९॥

इस जम्बूद्वीपके बीचमें सात प्रकारके श्रेष्ठ जनपद हैं और इन जनपदोंके अन्तरालमें छह कुलाचल शोभायमान हैं ॥३०॥

क्षेत्र—७

दक्षिण दिशासे लेकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत, ये सात क्षेत्र हैं, जो कुल पर्वतोंसे विभक्त हैं ॥३१॥

पर्वत—६

हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि, और शिखरी, ये छह कुल पर्वत मूल में और ऊपर समान विस्तार से युक्त तथा पूर्वापार समुद्रोंसे संलग्न हैं ॥३२॥

भरतक्षेत्र

भरत-क्षेत्रके ठीक बीचमें रजतमय और नाना प्रकारके उत्तम रत्नोंसे रमणीय विजयार्द्ध नामका उन्नत पर्वत है ॥३३॥

गंगा

हिमवान् पर्वतके मध्यमें पूर्व-पश्चिम लंबा पद्मद्रह है। इसकी पूर्व दिशेसे गंगा नदी निकलती है ॥३४॥

सिंधु

पद्म-द्रहके पश्चिमद्वारसे सिन्धु नदी निकलती है, और चौदह हजार नदियोंके परिवार सहित समुद्रमें प्रवेश करती है ॥३५॥

खण्ड—६

गंगा नदी सिंधु नदी, और विजयार्द्ध पर्वतसे भरतक्षेत्रके जो छह खण्ड हो गये हैं, उनके विभाग बतलाते हैं ॥३६॥

उत्तर और दक्षिण भरत क्षेत्रमेंसे प्रत्येकके तीन तीन खण्ड हैं। इनमेंसे दक्षिण भरतके तीन खण्डोंमें से मध्यका आर्यखण्ड है ॥३७॥

भरतक्षेत्रके आर्यखण्डमें कालके विभाग ये हैं— यहां पृथक् पृथक् अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीरूप दो प्रकारके काल परिवर्तन होते हैं ॥३८॥

काल—६

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनोंको मिलाकर एक कल्पकाल होता है। तथा उनमेंसे प्रत्येकके छह भेद हैं—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुषमा, दुषमसुषमा, दुषमा और अतिदुष्मा। इनमेंसे प्रथम सुषम-सुषम कालमें नियमसे परस्त्रीरमण और परधन-हरण नहीं होता ॥३९–४०॥

तीन कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण सुषमा नामक कालमें पहिले कालकी अपेक्षा उत्सेध (ऊँचाई), आयु, बल, ऋद्धि और तेज इत्यादिक उत्तरोत्तर हीन होते जाते हैं ॥४१॥

उत्सेधादिकके क्षीण होनेपर सुषमदुषमा काल प्रवेश करता है। उस कालमें नारियाँ अप्सराओंके समान और पुरुष देवोंके समान होते हैं ॥४२॥

कुलकर—१४

प्रतिश्रुतिको आदि लेकर नाभिरायपर्यंत अर्थात् प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराय, ये चौदह मनु पूर्वभवमें विदेह क्षेत्र के भीतर महाकुलों में राजकुमार थे ॥४३॥

ये सब कुलोंके धारण करनेसे 'कुलधर' नामसे और कुलोंके करनेमें कुशल होनेसे 'कुलकर' नामसे भी लोकमें सुप्रसिद्ध हैं ॥४४॥

अब यहाँसे आगे (नाभिराय् कुलकरके पश्चात्) पुण्योदयसे भरतक्षेत्रके मनुष्योंमें श्रेष्ठ और समस्त भुवन विख्यात तिरेसठ शलाका-पुरुष उत्पन्न होने लगते हैं ॥४५॥

ये शलाका-पुरुष तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, हरि (नारायण) और प्रतिशत्रु, (प्रतिनारायण) इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं । इनमेंसे तीर्थंकरोंकी बारह दुगुणे अर्थात् चौबीस, चक्रवर्तियोंकी बारह, बलभद्रोंकी नौ (पदार्थ), नारायणोंकी नौ (निधि) और प्रतिशत्रुओंकी भी नौ (रंध्र) संख्या है ॥४६॥

तीर्थंकर–२४

उनमेंसे ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चंद्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्लि, सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, वर्धमान, इन भरत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए चौबीस तीर्थंकरोंको नमस्कार करो । ये ज्ञानरूपी फरसेसे भव्य-जीवोंके संसार-रूपी वृक्ष को काटते हैं ॥४७–४९॥

चक्रवर्ती–१२

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन, और ब्रह्मदत्त, ये छह खण्डरूप पृथिवी मंडलको सिद्ध करनेवाले और कीर्तिसे भुवनतलको भरनेवाले बारह चक्रवर्ती भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए ॥५०–५१॥

बलदेव–९

विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ. सुदर्शन, नन्दी, नन्दीमित्र, राम और पद्म, ये नौ भरत क्षेत्रमें बलदेव हुए ॥५२॥

नारायण–९

उसी प्रकार त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, (पुरुष-) पुण्डरीक, (पुरुष-) दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण, ये नौ विष्णु (नारायण) हुए ॥५३॥

प्रतिनारायण–९

अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ, बालि, प्रहरण, रावण और जरासंध, ये नौ प्रतिशत्रु या प्रतिनारायण हुए ॥५४॥

शकराज

वीर जिनेन्द्रके मुक्तिप्राप्त होनेके चारसौ इकसठ वर्ष पश्चात् यहाँ शकराजा (विक्रमादित्य?) उत्पन्न हुआ। अथवा, वीर भगवान्‌के निर्वाणके पश्चात् छह सौ पाँच वर्ष और पांच महीनों के चले जानेपर शकनृप उत्पन्न हुआ। वीर भगवान्‌के निर्वाणके पश्चात् चारसौ इकसठ वर्षोंके बीतनेपर शकनरेन्द्र उत्पन्न हुआ। इस वंशके राज्यकालका प्रमाण दो सौ ब्यालीस वर्ष है ॥६७-६८-६९॥

गुप्तोंके राज्यकालका प्रमाण दो सौ पचपन वर्ष और चतुर्मुखके राज्यकालका प्रमाण ब्यालीस वर्ष है। इस सबको मिलानेपर (४६१+२४२+२५५+४२=) एक हजार वर्ष होते हैं, ऐसा कितने ही आचार्य निरूपण करते हैं ॥७०॥

जिस समय वीर भगवान्‌ने मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त किया उसी समय अवन्ति-सुत पालकका राज्याभिषेक हुआ ॥७१॥

साठ वर्ष पालकका, एकसौ पचपन वर्ष विजयवंशियोंका, चालीस वर्ष मुरुडवंशियोंका और तीस वर्ष पुष्यमित्रका राज्य रहा ॥७२॥

इसके पश्चात् साठ वर्ष वसुमित्र-अग्निमित्र, एक सौ वर्ष गन्धर्व, और चालीस वर्ष नरवाहन राज्य करते रहे। पश्चात् भृत्य-आंध्र (आंध्रभृत्य?) उत्पन्न हुए ॥७३॥

इन भृत्य-आंध्रोंका काल दो सौ ब्यालीस वर्ष है। इसके पश्चात् गुप्तवंशी हुए, जिनके राज्यकालका प्रमाण दो सौ इकतीस वर्ष है ॥७४॥

फिर इसके पश्चात् इन्द्रका सुत कल्कि उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु सत्तर वर्ष, और राज्यकाल द्विगुणित इक्कीस अर्थात् ब्यालीस वर्ष रहा ॥७५॥

कल्कि प्रयत्नपूर्वक अपने योग्य जनपदोंको वशमें करके लोभी हुआ मुनियोंके आहारमेंसे भी अग्रपिण्डको शुल्क मांगने लगा ॥७६॥

तब किसी असुरदेवने अवधिज्ञानसे मुनिगणोंके उपसर्गको जानकर और कल्किको धर्मका द्रोही मानकर मार डाला ॥७७॥

तब अजितंजय नामक उस कल्किके पुत्रने 'रक्षा करो' इस प्रकार कहकर उस देवके चरणोंमें नमस्कार किया। अतः उस देवने 'धर्मपूर्वक राज्य करो' इस प्रकार कहकर उसकी रक्षा की ॥७८॥

तबसे दो वर्ष तक लोगोंमें समीचीन धर्मकी प्रवृत्ति रही। फिर क्रमशः कालके माहात्म्यसे वह प्रतिदिन हीन होने लगी ॥७९॥

[यतिवृषभकृत त्रिलोकप्रज्ञप्ति]

: २ :

गृहस्थ-धर्म [१]

अरहंतों की वन्दना करके बारह प्रकार के श्रावक-धर्म को गुरूपदेश के अनुसार संक्षेप में कहता हूँ ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शनादि को प्राप्तकर जो कोई मुनियों के पाससे उत्तम समाचारी (सदाचरण) को सुनता है वह श्रावक कहलाता है ॥ २ ॥

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार श्रावकधर्म बारह प्रकार का होता है ॥ ३ ॥

अहिंसा

स्थूलरूप से प्राणिहिंसा का त्याग आदि (अर्थात् झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का स्थूलरूप से परित्याग) पाँच अणुव्रत हैं। उनमें से प्रथम स्थूल अहिंसा का स्वरूप वीतराग भगवान् ने इस प्रकार कहा है। स्थूलरूपसे प्राणिवध दो प्रकारका होता है—एक संकल्पद्वारा और दूसरा आरंभ द्वारा। श्रावक संकल्प पूर्वक वधका परित्याग कर देता है। ॥ ४-५ ॥

अब ईर्यासमिति सहित साधु यदि चलने के लिये अपना पैर उठावे और उसकी चपेटमें आकर कोई कुलिंगी (द्वीन्द्रियादि जीव) मर जाय, तो उस साधुको उस वधके निमित्तसे सूक्ष्म भी कर्मबंध शास्त्रमें नहीं बतलाया, क्योंकि वह साधु तो प्रमादरहित आचरण कर रहा है, और हिंसा तो प्रमादसे होती है; ऐसा कहा गया है ॥ ६–७ ॥

इस अहिंसाणुव्रतको धारण करके उसके पूर्णतः पालनके लिये तत्संबंधी अतीचारोंको विधिवत् जानकर उनका प्रयत्नपूर्वक निवारण करना चाहिये ॥ ८ ॥

क्रोधादिके कारण दूषितमन होकर गौ व मनुष्य आदिको बांधकर न रक्खे, उनकी मार-पीट न करे, अंगोंको न छेदे, अधिक भार न लादे तथा उनको भूखे-प्यासे न रक्खे ॥९॥

त्रसजीवोंकी रक्षाके लिये जलको परिशुद्ध करके पिये तथा लकड़ी, धान्य आदि को ग्रहण करके भी विधि पूर्वक उनका उपभोग करे ॥१०॥

सत्य

दूसरा मृषात्याग- अणुव्रत पांच प्रकारका होता है : कन्यानृत, गोअनृत भूमिअनृत न्यासहरण और कूटसाक्षित्व। इनके त्यागके व्रतको ग्रहण करके उसके पूर्णतः पालनके लिये तत्संबंधी अतीचारोंको यथाविधि जानकर उनका प्रयत्नपूर्वक निवारण करना चाहिये ॥११-१२॥

सहसा अभ्याख्यान, रहस्य-अभ्याख्यान, स्वदारामंत्रभेद, मृषोपदेश व कूटलेखकरण इन अतीचारों से बचना चाहिये ॥१३॥

बुद्धिपूर्वक विचार करके ऐसे वचन बोलना चाहिये जो इस लोक और परलोकके अविरुद्ध हों तथा अपने लिये, दूसरोंके लिये एवं दोनोंके लिये सर्वथा पीड़ाजनक न हों ॥१४॥

अचौर्य

तीसरे अदत्तादान-त्याग-अणुव्रतको सचित्त और अचित्तके संबंधसे वीत-राग भगवान्‌ने दो प्रकारका कहा है। इसके अतीचार स्तेनाहृत, तस्कर-प्रयोग विरुद्धराज्यातिक्रम, कूट नापतौल व नकली वस्तुके व्यवहारका निवारण करना चाहिये ॥१४-१५॥

ब्रह्मचर्य

चौथा अणुव्रत परदार-परित्याग व स्वदार-संतोष है। परदारा औदारिक व वैक्रियिक शरीरके भेदसे दो प्रकारकी होती है। इत्वरिका-परिगृहीता-गमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाहकरण, और काम-तीव्राभिलाष, ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतके अतीचार हैं। इनको तथा मोहोत्पादक विकार सहित पर-युवति दर्शनादिका निवारण करना चाहिये। ये मदनके बाण चारित्ररूपी प्राणका विनाश कर डालते हैं ॥१६–१८॥

अपरिग्रह

सचित्त और अचित्त सम्पत्तिमें इच्छाका परिमाण कर लेनेको अनन्त ज्ञानियोंने पांचवाँ अपरिग्रह अणुव्रत कहा है। भले प्रकार शुद्धचित्त होकर क्षेत्रादि हिरण्यादि, धनादि, द्विपदादि तथा कुप्य (बर्तन भांडे आदि) के प्रमाणका अति-क्रम नहीं करनां चाहिये। तथा संतोष भावना रखना चाहिये। एवं यह विचार करना चाहिये कि मैंने बिना जाने इस थोड़ी सी वस्तुको तो ग्रहण कर ली, किन्तु पुनः मैं कभी इस प्रकार ग्रहण नहीं करूंगा ॥१९–२१॥

दिग्व्रत

ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग् दिशाओंमें (गमनागमनका) प्रमाण करना, यह भगवान् महावीरने श्रावकधर्मका प्रथम गुणव्रत कहा है ॥२२॥

[ऊपर नीचे व तिरछी दिशाओंमें गृहीत प्रमाणका अतिक्रम, तथा क्षेत्र-वृद्धि व विस्मरण ये इस व्रतके अतीचार हैं जिनसे बचना चाहिये ॥१८३॥]

भोगोपभोग परिमाण

उपभोग-परिभोगका परिमाण करना इसे दूसरा गुणव्रत जानना चाहिये। इस व्रतके कर लेनेसे नियमके अभावमें जो व्यापक दोष उत्पन्न होते हैं वे नहीं होते, यह इसका गुणभाव है ॥२३॥

सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार तथा अपक्व, दुष्पक्व व तुच्छ औषधियोंका भक्षण, इन अतीचारोंका अच्छी तरह निवारण करना चाहिये ॥२४॥

अनर्थदण्डव्रत

अंगार, वन, शकट, भाड़ा व स्फोटन सम्बन्धी काम तथा दांत, लाख, रस, केश व विष सम्बन्धी व्यापार, एवं यंत्रपीड़न, निर्लांछन, दावाग्नि सम्बंन्धी कर्म, सरोवर, द्रह व तालाबका शोषण व असतीपोषण, इन सबका निवारण करना चाहिये ॥२५–२६॥

तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्डव्रत है, जो अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और पापोपदेश रूपसे चार प्रकारका है ॥२७॥ जीव सप्रयोजन आचरणसे उतना कर्मबंध नहीं करता जितना अनर्थ आचरणसे करता है। सप्रयोजन क्रियासे थोड़ा और निष्प्रयोजन क्रियासे बहुत कर्म बंधता है, क्योंकि, सप्रयोजन कार्यमें कालादि नियामक होते हैं, किन्तु अनर्थ कार्यमें तो कुछ नियामकता ही नहीं ॥२८॥ कंदर्प (रागोद्दीपक परिहास) कौत्कुच्य (विकारोत्पादक वचन और अंगचेष्टा), मौखर्य (निरर्थक निर्लज्ज बकवाद), संयुक्ताधिकरण (हिंसाके उपकरणोंका संयोग) तथा उपभोग-परिभोगातिरेक (आवश्यकतासे अधिक विलासकी सामग्री एकत्र करना) ये अनर्थदंडव्रतके अतिचार हैं जिनका निवारण करना चाहिये ॥२९॥

सामायिक

शिक्षाव्रतोंमें प्रथम व्रत सामायिक है जिसे पापक्रियाओंके परित्याग व निष्पाप योगके आसेवन रूप जानना चाहिये ॥३०॥ सामायिक करते समय श्रावक श्रमणके ही समान हो जाता है, इसलिये सामायिक अनेक बार करने योग्य है ॥३१॥

देशावकाशिक

दिग्व्रतमें जो दिशाओंमें गमनागमनका परिमाण ग्रहण किया है उसमें प्रतिदिन और भी अल्पप्रमाण निर्धारित करना दूसरा शिक्षाव्रत कहा गया है। इस व्रतका नाम देशावकाशिक है जिसे सर्प विष-न्यायके अनुसार हृदयकी शुद्धि सहित हितकारी जान प्रयत्नपूर्वक पालना चाहिये ॥३२-३३॥

[सर्प यदि अंगुली में काट खाये तो उसी अंगुलीको बांध देते हैं या काटकर अलग कर देते हैं जिससे उसका विष शेष शरीर में न फैले। इसी प्रकार असंयम की वृत्तिको सीमित कर अधिक कर्मबन्धन से बचना चाहिये। इसे सर्प-विष-न्याय कहते हैं।]

[आनयन प्रयोग, प्रेष्य प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप, ये देशावकासिक व्रतके अतिचार हैं जिन्हें निवारण करना चाहिये ॥३२०]

प्रोषधोपवास

आहार प्रोषध, शरीरसत्कार प्रोषध, ब्रह्मचर्य प्रोषध और अव्यापार प्रोषध, ये प्रोषधोपवास नामक तीसरे गुणव्रतके प्रकार हैं ॥ ३४ ॥

अप्रत्यवेक्षित व दुष्प्रत्यवेक्षित शय्या और संस्तर तथा अप्रमार्जित व दुष्प्रमार्जित उच्चारभूमिका निवारण करना चाहिये। उसी प्रकार इस प्रोषधोपवास व्रतमें विधिपूर्वक उद्यत होकर समस्त आहारादि प्रोषधोंमें भले प्रकार पालनके अभाव अर्थात् अतिचारका बचाव करना चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

अतिथि-संविभाग

न्यायोपार्जित व कल्पनीय अन्न आदि का देश, काल, श्रद्धा व सत्कार क्रम सहित परम भक्तिसे आज्ञा व अनुग्रह बुद्धि पूर्वक संयतोंको दान देना, इसे जिन भगवान्‌ने गृहस्थोंका अन्तिम शिक्षाव्रत अतिथि संविभाग कहा है ॥३७—३८॥

इस प्रकार यहां श्रमणोपासक अर्थात् गृहस्थधर्ममें अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत तथा उनके आनुषंगिक अन्य व्रतोंका कथन किया ॥३९॥

पुष्पोंसे वासित तिलोंका तैल भी सुगंधित होता है। वीतराग आर्हतोंने इसी उपमासहित बोधि अर्थात् ज्ञानका प्ररूपण किया है। (अर्थात् जैसे पुष्पोंसे वासित तिलोंका तैल सुगंधित होता है, उसी प्रकार जैनधर्मके अभ्याससे जीवोंमें उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके फल स्वरूप उन्हें सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥४०॥

[हरिभद्रसूरिकृत श्रावकप्रज्ञप्ति]

: ३ :

गृहस्थ-धर्म (२)

जिन्होंने भव्य-जनोंको सागार और अनगार धर्मका उपदेश दिया है उन जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार करके हम श्रावक धर्मका प्ररूपण करते हैं ॥१॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषोधोपवास, सचित्त-त्याग, रात्रि-भोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्ट-आहार-त्याग, ये देशविरत श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ अर्थात् दर्जे हैं। जिसको सम्यक्त्व नहीं है उसके ये ग्यारह प्रातिमा नहीं होतीं। इस कारण मैं सम्यक्त्वका वर्णन करता हूँ, तुम सुनो ॥२-३॥

आप्त, आगम और तत्त्वोंमें शंका आदिक दोष रहित निर्मल श्रद्धान होनेको सम्यक्त्व जानना चाहिये ॥४॥

निःशङ्का, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये सम्यक्त्वके आठ अंग हैं ॥५॥

संवेग, निर्वेग, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकंपा, ये सम्यक्त्वके आठ गुण होते हैं ॥ ६ ॥

पदार्थोंमें श्रद्धान रखनेवाला जो कोई उपर्युक्त आठ गुणोंसे संयुक्त और दृढ़चित्त होकर सम्यक्त्वको अंगीकार करता है वह सम्यक्दृष्टि होता है ॥ ७ ॥

१. दर्शन

पांच उदंबरों और सात व्यसनों का जो कोई सम्यक्दृष्टि त्याग करता है उसको दर्शन श्रावक कहते हैं। अर्थात् वह पहली प्रतिमाका धारी होता है ॥८॥

गूलर, वड़, पीपल, पिलखन, और अंजीर, ये पांच फल तथा संधाणा (आचार) और वृक्षोंके फूल, इन सबमें त्रसजीवोंकी निरंतर उत्पत्ति होती है। इसलिये ये सब त्यागने योग्य हैं। ॥ ९ ॥

जूआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री, ये सात कुव्यसन दुर्गतिमें लेजानेवाले पाप हैं ॥ १० ॥

२. व्रत

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतोंको जो कोई पालेता है वह दूसरी प्रतिमाका धारी है ॥११॥

जीवहिंसा, झूठ, चोरी, और अब्रह्मका स्थूलरूप त्याग और इच्छानुसार परिग्रहका परिमाण करना, ये पाँच अणुव्रत हैं ॥१२॥

पूर्व, उत्तर, दक्षिण, और पश्चिम दिशामें योजनका प्रमाण करके उससे बाहर जानेका त्याग करना प्रथम गुणव्रत अर्थात दिग्व्रत है ॥१३॥

जिस देशमें व्रतके भंग होनेका कारण होता है उस देशमें जानेका नियमसे त्याग करना दूसरा गुणव्रत अर्थात् देशव्रत है ॥१४॥

लोहेका टुकड़ा, तलवार आदिक, लाठी, फांस अर्थात् मेख आदिक, इनको न बेचना, और झूठी तराजू, झूठे बाट, तथा क्रूर जानवरोंको न रखना, तीसरा गुणव्रत अर्थात् अनर्थदंड त्याग व्रत है ॥१५॥

शरीरको शोभा देनेवाले पदार्थ, तांबूल, सुगंध और पुष्प आदि का परिमाण करना भोगविरति नामक पहला शिक्षाव्रत है ॥१६॥

अपनी शक्तिके अनुसार स्त्री, वस्त्र, आभरण आदिका परिमाण करना उपभोग निवृत्ति नामक दूसरा शिक्षाव्रत है ॥१७॥

आए हुए अतिथियोंको यथोचित रूपसे आहारादि दान देना अतिथि-संविभाग नामक तीसरा शिक्षाव्रत है। अपने ही घरमें या जिनमंदिरमें रहकर और तीन प्रकारका आहार त्याग कर जो गुरुके पास भले प्रकार मन, वचन, कायसे आलोचना करना है वह सल्लेखना नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है। ॥१८–१९॥

३. सामायिक

शुद्ध होकर, अर्थात् स्नान आदिक करके, अपने घरमें, या चैत्य के सम्मुख स्थानमें, पूर्व दिशाकी ओर या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके, कायोत्सर्ग मुद्रासे खड़े होकर जो कोई लाभ-हानि व शत्रु-मित्रको समता भाव से देखता है, तथा मनमें पंच नमोकार मंत्रका जाप करता हुआ सिद्धोंके स्वरूपका ध्यान करता है, अथवा संवेग (वैराग्य भाव) सहित धर्मध्यान या शुक्लध्यान करता है और इस अवस्थामें निश्चलांग होकर क्षणमात्र भी रहता है, वह उत्तम सामायिक व्रतका धारक है ॥२०–२२॥

४. प्रोषधोपवास

उत्तम, मध्यम और जघन्य, तीन प्रकारका प्रोषध उपवास कहा गया है। एक महीने के चारों पर्वमें (अर्थात् दोनों पक्षोंकी अष्टमी चतुर्दशीको) अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना चाहिये, यह उत्तम प्रोषधोपवास है।

उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी जो विधि है वही मध्यम प्रोषधोपवासकी समझनी चाहिये। केवल भेद इतना है कि मध्यम उपवासमें पानीके सिवाय शेष सब वस्तुका त्याग होता है ॥२३-२४॥

बड़े आवश्यक कार्यको जानकर, पापका निवारण करता हुआ, अनारंभ भावसे जो अपना कार्य भी करता है और उपवासभी धारण करता है, वह जघन्य प्रोषधोपवास है ॥२५॥

५. सचित्त त्याग

पत्र, अंकुर, कंद, फल, बीज आदिक हरित पदार्थ और अप्रासुक पानी का त्याग करना सचित्त-त्याग प्रतिमा है ॥२६॥

६. दिवा ब्रह्मचर्य व निशिभोजन

मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदना अर्थात् नौ प्रकारसे दिनके समय मैथुनका जो त्याग करता है वह छठी प्रतिमा का धारक श्रावक है ॥२७॥

यदि कोई रात्रिभोजन करता है, तो वह ग्यारह प्रतिमामें से पहिली प्रतिमाका भी श्रावक नहीं रहता। इस कारण रात्रिभोजनका नियमसे त्याग करना चाहिये ॥२८॥

रात्रिके समय चमड़ा, हड्डी, कीड़ा, मूषक, सांप और बाल आदिक जो कुछ भी भोजनमें पड़ जाता है वह दिखाई नहीं देता और सब कुछ खा लिया जाता है ॥२९॥

इस प्रकार रात्रिभोजनमें बहुतसे दोष जानकर मन, वचन, काय से रात्रि-भोजनका त्याग करना चाहिये ॥३०॥

७. ब्रह्मचर्य

पूर्वोक्त नौ प्रकारसे सर्वथा मैथुनका त्याग और स्त्री-कथाका भी त्याग करनेवाला सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक होता है ॥३१॥

८. आरम्भ-त्याग

जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृह-सम्बन्धी आरम्भ हो उसका सदैव परित्याग करनेवाला आठवीं आरम्भ-त्याग प्रतिमाका धारक कहा गया है ॥३२॥

९. परिग्रह-त्याग

वस्त्रमात्र परिग्रह रखकर जो शेष परिग्रहका त्याग करता है और जितना परिग्रह रखता है उसमें भी ममत्व नहीं करता है वह नवमीं प्रतिमाका श्रावक है ॥३३॥

१०. अनुमति-त्याग

अपने या पराये लोगों द्वारा गृहकार्यके सम्बन्धमें पूछे जानेपर भी जो अनुमोदना नहीं करता, अर्थात् उस कार्यके करनेमें अपनी अनुमति नहीं देता, वह दशमी प्रतिमाका श्रावक है ॥३४॥

११. उद्दिष्टत्याग

ग्यारहवीं प्रतिमाका श्रावक उत्कृष्ट श्रावक होता है। उसके दो भेद हैं—प्रथम एक वस्त्रका रखनेवाला और दूसरा कोपीनमात्र रखनेवाला ॥३५॥

पहले दर्जेवाला अपने बाल उस्तरेसे बनवाता है या कैंचीसे कटवाता है, और यत्नके साथ उपकरणसे स्थान आदिको साफ करता है। हाथमें या बर्तनमें भोजन करता है और चार पर्वोंमें नियमके साथ उपवास करता है ॥३६–३७॥

दूसरे दर्जेवालेकी भी यही क्रिया है। भेद इतना है कि यह नियमसे केशलोंच करता है, पीछी रखता है और हाथमें भोजन करता है ॥३८॥

[वसुनन्दिकृत श्रावकाचार]

: ४ :

मुनि धर्म [१]

जिनकी आत्मा संयममें सुस्थिर हो चुकी है, जो सांसारिक वासनाओं अथवा आन्तरिक एवं बाह्य-परिग्रहों से मुक्त हैं, जो अपनी तथा दूसरोंकी आत्माओंको कुमार्गसे बचा सकते हैं, अथवा जो छःकाय (यावन्मात्र प्राणियों) के रक्षक हैं और जो आन्तरिक ग्रंथियोंसे रहित हैं, उन महर्षियों के लिये जो अनाचरणीय है, वह इस प्रकार है :— ॥१॥

१ औद्देशिक (उद्देश्यसे अर्थात् उसीके लिए बनाया गया भोजन) २ क्रीतकृत (साधुके निमित्त ही खरीदकर लाया हुआ भोजन) ३ नित्यक (सदैव एक ही घरका भोजन) ४ अभिकृत (दूरीसे लाया गया भोजन) ५ रात्रिभुक्ति, ६ स्नान, ७ चंदन आदि सुगंधित पदार्थ, ८ पुष्पों की माला, ९ वीजन क्रिया (पंखा से हवा करना) ॥२॥

१० संनिधि (संचित किये हुये खाद्य व अन्य पदार्थ), ११ गृहीमात्र (गृहस्थके योग्य सामग्री), १२ राजपिंड (राजाके यहांका भोजन), १३ किमिच्छक (जहांसे जो चाहे वह ले ऐसी दानशालाका भोजन), १४ संवाहन (तैल आदिका मर्दन), १५ दंत प्रधावन, १६ संप्रश्न (कौतुकवश प्रश्न करना) १७ देहप्रलोकन (दर्पणमें अपने शरीरकी शोभा देखना), ॥३॥

१८ अष्टापद (जुआ खेलना), नालिका (शतरंज आदि खेल खेलना), २० छत्र-धारण करना, २१ चिकित्सा (हिंसा निमित्तक औषधोपचार करना), २२ पैरोंमें जूते पहिनना, २३ अग्नि जलाना। ॥४॥

२४ शय्याकर पिंड (जिस गृहस्थने रहनेके लिये आश्रय दिया हो उसीके यहांका भोजन), २५ आसंदी पर्यंक (कुर्सी पलंग आदिका उपयोग), २६ गृहांतर निषद्या (घरके भीतर बैठना), २७ शरीरका उद्वर्तन करना (उबटन आदि लगाना) ॥५॥

२८ गृहस्थ-वैयावृत्य (गृहस्थकी सेवा करना), २९ आजीव-वृत्ति (कुछ लेकर काम कर देना), ३० तप्तानिवृतभोजित्व (सचित्त जलका ग्रहण), ३१ आतुर-स्मरण (रोग या क्षुधाकी पीड़ा होनेपर अपने प्रिय जन का नाम ले लेकर

स्मरण करना, अथवा किसीकी शरण मांगना, अथवा रोगीको अच्छे भोजनादिका स्मरण दिलाना) ॥६॥

३२ सचित्त मूली, ३३ सचित्त अदरख, ३४ सचित्त गन्ना, ३५ प्याज, सूरण आदि कंद, ३६ सचित्त जड़ीबूटी, ३७ सचित्त फल, ३८ सचित्त बीज ॥७॥

३९ सौवर्चल नमक, ४० सैंधव नमक, ४१ सामान्य नमक, ४२ रोम देशका नमक, ४३ समुद्री नमक, ४४ पांशु क्षार (पांशु लवण) तथा ४५ काला नमक आदि अनेक प्रकारके सचित्त नमक ॥८॥

४६ धूपन (धूप देना अथवा बीड़ी आदि पीना), ४७ वमन (औषधोंके द्वारा उल्टी करना), ४८ बस्तिकर्म (गुदामार्गसे जल आदि चढ़ाकर पेट साफ करना), ४९ विरेचन (जुलाब लेना), ५० नेत्रोंकी शोभा बढ़ानेके लिये अंजन आदि लगाना, ५१ दाँतोंको रंगीन बनाना, ५२ गात्राभ्यंग विभूषण (मालिश और शरीरको सजाना) ॥९॥

संयमसे युक्त और द्रव्य (उपकरण) तथा भाव (क्रोधादि कषायों) से हल्के होकर विहार करनेवाले निर्ग्रंथ महर्षियोंके लिये उपर्युक्त ५२ प्रकारकी क्रियाएं अनाचरणीय हैं ॥१०॥

पांच (इन्द्रिय) आस्रव द्वारोंके त्यागी, मन, वचन और काय, इन तीन गुप्तियोंसे गुप्त (संरक्षित); छः कायके जीवोंके प्रतिपालक (रक्षक), पंचेन्द्रियोंका दमन करनेवाले, वीर एवं सरल स्वभावी निर्ग्रंथ मुनि होते हैं ॥११॥

समाधियुक्त संयमी ग्रीष्मऋतुमें उग्र आतापना सहते हैं, हेमंत ऋतुमें वस्त्रोंको अलग कर शीत सहन करते हैं, और वर्षाऋतुमें मात्र अपने स्थानमें ही अंगोपांगों को संवरण कर बैठे रहते हैं ॥१२॥

(अकस्मात् आनेवाले संकटों) रूपी शत्रुओं को दमन करनेवाले, मोह को दूर करनेवाले और जितेन्द्रिय महर्षि सब दुःखों का नाश करने के लिये संयम एवं तप में प्रवृत्त होते हैं ॥१३॥

उनमें से बहुत से साधु महात्मा दुष्कर तप करके और अनेक असह्य कष्ट सहन करके देवलोक में जाते हैं और बहुत से कर्मरूपी मल से सर्वथा मुक्त होकर सिद्ध होते हैं ॥१४॥

(जो देवगति में जाते हैं वे संयमी पुरुष फिर मर्त्यलोक में आकर षट्काय जीवों के त्राता होकर, संयम एवं तपश्चर्या द्वारा पूर्व संचित समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्धिमार्ग का आराधन करते हैं और क्रमशः निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥१५॥

[दशवैकालिक सूत्र-३]

: ५ :

मुनि-धर्म [२]

मूलगुणोंके पालन द्वारा निर्मल हुए सब संयमियोंको मस्तक नमाकर वंदना करके इस लोक और परलोकमें हितकारी मूलगुणोंको कहता हूँ ॥१॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा निर्दिष्ट पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांच इन्द्रियोंके निरोध, छह आवश्यक, लोंच, आचेलक्य, अस्नान, पृथिवीशयन, अदंतघर्षण, स्थितिभोजन, और एकभक्त, ये ही जैन साधुओंके अट्ठाईस मूलगुण हैं ॥२-३॥

महाव्रत—५

हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य, और परिग्रहका त्याग, ये पाँच महाव्रत कहे गये हैं ॥४॥

१. अहिंसा

काय, इंद्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि—इनमें सब जीवोंको जानकर उठने बैठने आदि क्रियाओंमें हिंसा आदिके त्यागको अहिंसा महाव्रत कहते हैं ॥५॥

२. सत्य

राग, द्वेष, मोह आदि कारणोंसे असत्य वचनको तथा दूसरेको दुखदायक सत्य वचनको छोड़ना और द्वादशांग शास्त्रके अर्थ कहनेमें अयथार्थ वचनका निवारण करना सत्यमहाव्रत है ॥६॥

३. अचौर्य

ग्राम आदिमें पड़ा हुआ, भूला हुआ, रखा हुआ, इत्यादिरूप थोड़ा या बहुत द्रव्य, तथा दूसरेके द्वारा संचित परद्रव्यको ग्रहण नहीं करना, यह अदत्त-त्याग अर्थात् अचौर्य महाव्रत है ॥७॥

४. ब्रह्मचर्य

वृद्धा, बाला व युवती स्त्रियोंको अथवा उनके चित्रोंको देखकर उनको माता, पुत्री व बहिन समान समझ स्त्री संबंधी कथा, कोमल वचन, स्पर्श, रूपका देखना, इत्यादिक राग क्रियाओंका परित्याग करना ही तीनों लोकोंमें पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है ॥८॥

५. अपरिग्रह

जीवके आश्रित राग द्वेषादि अंतरंग परिग्रह, जीवसे अबद्ध धन धान्यादि अचेतन परिग्रह, तथा जीवसे जिनकी उत्पत्ति है ऐसे मोती, शंख, दांत, कंबल इत्यादिका शक्ति भर त्याग, अथवा इनसे इतर जो संयम, ज्ञान व शौचके उपकरण इनमें ममत्वका न रखना, यह असंग अर्थात् परिग्रहत्याग महाव्रत है ॥९॥

समिति—५

ईर्या समिति (गमनागमनमें सावधानी), भाषा समिति, एषणा समिति, (आहारमें सावधानी), आदान-निक्षेपण समिति (उपकरण रखने उठानेमें सावधानी) मूत्रविष्ठादिका शुद्धभूमिमें क्षेपण अर्थात् प्रतिष्ठापना समिति, ये पाँच समितियां हैं। ॥ १० ॥

१. ईर्या

निर्जीव मार्गसे दिनमें चार हाथ प्रमाण देखकर अपने कार्य के लिए प्राणियोंको पीड़ा नहीं देते हुए संयमीका जो गमन है वह ईर्या समिति है॥ ११ ॥

२. भाषा

झूठा दोष लगानेरूप पैशुन्य, व्यर्थ हँसना, कठोर वचन, दूसरेके दोष प्रकट करनेरूप परनिंदा, अपनी प्रशंसा; स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा इत्यादिक वचनोंको छोड़कर अपने और परके लिये हितकारी वचन बोलना, इसे भाषा समिति कहते हैं ॥ १२ ॥

३. एषणा

उद्गमादि छयालिस दोषोंसे रहित, भूख आदि मेटना व धर्म साधनादि कारणयुक्त, कृतकारित आदि नौ विकल्पोंसे विशुद्ध, ठंडा गर्म आदि भोजनमें रागद्वेष रहित समभाव कर भोजन करना यह निर्मल एषणा समिति है। ॥१३॥

४. आदान-निक्षेप

ज्ञानके निमित्त पुस्तक आदि उपकरण रूप ज्ञानोपधि, पापक्रियाकी निवृत्तिरूप संयमके लिए पीछी आदिक संयमोपधि, मूत्रविष्ठा आदि देहमलके प्रक्षालनरूप शौचका उपकरण कमंडलु आदि शौचोपधि, और अन्य सांथरे आदिके निमित्त उपकरणरूप अन्योपधि, इनका यत्नपूर्वक (देख शोधकर) उठाना रखना, यह आदान-निक्षेपण समिति है ॥१४॥

५. प्रतिस्थापन

असंयमी जनके गमनरहित एकांतस्थान, हरितकाय व त्रसकाय रहित अचित-स्थान, दूर, छिपा हुआ, बिलछेदरहित चौड़ा, और लोक जिसकी निंदा व विरोध न करें ऐसे स्थानमें मूत्रविष्ठा आदि देहके मलका क्षेपण करना यह प्रतिष्ठापना समिति है ॥१५॥

इन्द्रियनिग्रह—५

चक्षु, कान, नाक, जीभ, स्पर्शन, इन पांच इंद्रियोंको अपने अपने रूप, शब्द, गंध, रस, तथा ठंडा गर्म आदि स्पर्शरूप विषयोंसे सदैव साधुको रोकना चाहिये ॥१६॥

१. चक्षु नि०

सजीव व निर्जीव पदार्थोंके गीत नृत्यादि क्रियाभेद, समचतुरस्रादिसंस्थान भेद, गोरा काला आदि वर्ण भेद, इस प्रकार सुंदर असुंदर इन भेदोंमें रागद्वेषादि भावना का निरोध, यह मुनि का चक्षुनिरोधव्रत है ॥१७॥

२. श्रोत्र नि०

षड्ज, ऋषभ, गांधार, आदि सात स्वररूप जीवशब्द और वीणा आदिसे उत्पन्न अजीवशब्द, ये दोनों प्रकार के शब्द, रागादि के निमित्तकारण हैं, इसलिये इनको नहीं सुनना, यह श्रोत्रनिरोध है ॥१८॥

३. घ्राण नि०

स्वभावसे गंधरूप तथा अन्य सुगंधी द्रव्य के संस्कार से सुगंधादिस्वरूप, ऐसे सुख दुःख के कारणभूत जीव अजीवस्वरूप पुष्प, चंदन आदि द्रव्यों में रागद्वेष नही करना, यह मुनिवरका घ्राणनिरोध व्रत है ॥१९॥

४. जिह्वा नि०

भात आदि अशन, दूध आदि पान, लाडू आदि खाद्य, इलायची आदि स्वाद्य, ऐसे चार प्रकारके तथा तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल व मधुर, इन पांच रसरूप आहारके दाताजनों द्वारा दिये जानेपर आकांक्षारहित परिणाम होना, वह जिह्वाजय नामक व्रत है ॥ २० ॥

५. स्पर्श नि०

चेतनस्त्री इत्यादि जीवमें और शय्या आदि अचेतनमें उत्पन्न हुआ कठोर

नरम आदि आठ प्रकार के सुखरूप अथवा दुःखरूप स्पर्श में हर्ष-विषाद नहीं करना, -यह स्पर्शन इन्द्रियनिरोध व्रत है॥ २१ ॥

आवश्यक—६

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये छह आवश्यक सदा करना चाहिये ॥ २२ ॥

१. समायिक

देहधारनेरूप जीवन, और प्राणवियोगरूप मरण, इन दोनोंमें, तथा वांछित वस्तुकी प्राप्तिरूप लाभ, व इच्छितवस्तुकी अप्राप्तिरूप अलाभमें; इष्ट अनिष्टके संयोग-वियोग में, स्वजन मित्रादिक बंधु, शत्रु दुष्टादिक अरि इन दोनोंमें; सुखदुःखमें वा भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि बाधाओंमें रागद्वेष रहित समान परिणाम होना, उसे सामायिक कहते हैं ॥२३॥

२. स्तव

ऋषभ अजित आदि चौवीस तीर्थंकरोंके नाम उच्चारण करना, उन नामोंकी निरुक्ति अर्थात् नामके अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणोंकी प्रशंसा करना, उनके चरण-युगलको पूजकर मन-वचन-कायकी शुद्धतासे उन्हें प्रणाम करना, इसे चतुर्विंशस्तव जानना चाहिये ॥२४॥

३. वन्दन

अरहंत प्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, अनशनादि बारह तपोंसे अधिक तपगुरु, अंगपूर्वादिरूप आगमज्ञानसे अधिक श्रुतगुरु; व्याकरण, न्याय आदि ज्ञानकी विशेषतारूप गुणोंसे अधिक गुणगुरु; अपनेको दीक्षा देनेवाले दीक्षागुरु और बहुतकालके दीक्षित राधिकगुरु, इनको कायोत्सर्गादिक सिद्धभक्ति गुरुभक्तिरूप क्रियाकर्मसे, तथा श्रुतभक्ति आदि क्रियाके बिना मस्तक नमाने रूप मुंडवंदनाकर मन-वचन-कायकी शुद्धिसे नमस्कार करना, यह वंदना नामक मूलगुण है ॥२५॥

४. प्रतिक्रमण

आहार शरीरादि द्रव्यमें, वसतिका शयन आसन आदि क्षेत्रमें, प्रातःकाल आदि कालमें, चित्तके व्यापाररूप भाव (परिणाम) में किये गये दोषको शुभ मन वचन कायसे शोधना, अपने दोषकी स्वयं निन्दा-गर्हा करना, यह प्रतिक्रमण गुण है ॥२६॥

५. प्रत्याख्यान

नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, इन छहोंमें शुभ मन वचन कायसे आगामी कालके लिये अयोग्यका त्याग करना, अर्थात् अयोग्य नाम नहीं करूंगा, न कहूंगा और न चिंतवन करूंगा इत्यादि त्यागको प्रत्याख्यान जानना ॥२७॥

६. विसर्ग

दिनमें होनेवाली दैवसिक आदि निश्चय क्रियाओंमें, अर्हत्भाषित पचीस, सत्ताईस व एकसौ आठ उच्छ्वास इत्यादि परिमाणसे कहे हुए अपने अपने कालमें, दया क्षमा सम्यग्दर्शन, अनंतज्ञानादिचतुष्टय इत्यादि जिनगुणोंकी भावना सहित देहमें ममत्वका छोड़ना, यह कायोत्सर्ग है ॥२८॥

१–लौंच

दो महिने, तीन महिने या चार महिने पश्चात् उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्यरूप व प्रतिक्रमण सहित दिनमें उपवास सहित किया गया जो अपने हाथसे मस्तक दाढ़ी मूंछके केशोंका उपाड़ना, वह लौंचनामा मूलगुण है ॥२९॥

२–अचेलकत्व

कपास, रेशम व रोम के बने हुए वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म, वृक्षादिकी छालसे उत्पन्न सन आदिके टाट, अथवा पत्ता तृण आदि, इनसे शरीरका आच्छादन नहीं करना, हार आदि आभूषणोंसे भूषित न होना, संयमके विनाशक द्रव्योंसे रहित होना, ऐसा जगत् पूज्य निर्ग्रंथरूप अचेलकव्रत मूलगुण है ॥३०॥

३–अस्नान

जलसे नहानेरूप स्नान, तथा उबटन, चंदनादिलेपन आदि क्रियाओंको छोड़ देनेसे जल्ल (सर्वांग प्रच्छादक मल) वमल्ल (अंगैकदेश-प्रच्छादक मल) तथा स्वेद (पसीना) द्वारा समस्त शरीरका मलिन हो जाना अस्नान नामा महान् गुण मुनिके है जिससे कषाय निग्रहरूप प्राणसंयम तथा इन्द्रियनिग्रहरूप इंद्रियसंयम, इन दोनोंकी रक्षा होती है ॥३१॥

४–क्षितिशयन

जीव-बाधारहित, अल्पसंस्तररहित (या अल्प संस्तरयुक्त) असंयमीके गमनरहित प्रच्छन्न भूमि प्रदेशमें दंडके समान, अथवा धनुषके समान, एक पार्श्वसे सोना, वह क्षिति-शयन मूलगुण है ॥३२॥

५—अदंतधावन

अंगुली, नख, अवलेखिनी (दांतौन) काली (तृणविशेष), पैनी कंकणी, वृक्षकी छाल (वक्कल), आदिसे दांतके मेलको नहीं शुद्ध करना, यह इंद्रिय संयमकी रक्षा करनेवाला अदंतमन मूलगुणव्रत है ॥ ३३ ॥

६—स्थिति-भोजन

अपने हाथकी अंजलिपुटसे, भीत आदिके आश्रय रहित, चार अंगुलके अंतरसे समपाद खड़े रहकर, अपने चरणकी भूमि, झूठन पड़नेकी भूमि, जिमाने वालेके प्रदेशकी भूमि, ऐसी तीन भूमियोंकी शुद्धतासे आहार ग्रहण करना, यह स्थिति-भोजन नामक मूलगुण है ॥ ३४ ॥

७—एकभक्त

सूर्य के उदय और अस्तकालकी तीन घड़ी छोड़कर, वा मध्यकालमें एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त कालमें एक बार भोजन करना, यह एकभक्त मूलगुण है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो कोई विधियुक्त मूलगुणोंको मन-वचन-कायसे पालता है वह तीन लोकमें पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

[वट्टकेरकृत मूलाचार]

: ६ :

धर्मांग

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य, ये दश भेद मुनिधर्मके हैं ॥ १ ॥

क्रोधके उत्पन्न होनेके साक्षात् बाहिरी कारण मिलनेपर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता, उसके उत्तमक्षमा धर्म होता है ॥ २ ॥

जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादिके विषयमें थोड़ासा भी गर्व नहीं करता, उसीके मार्दव धर्म होता है ॥ ३ ॥

जो श्रमण कुटिल भाव अर्थात् मायाचारी परिणामोंको छोड़कर शुद्ध हृदयसे चारित्रका पालन करता है, उसके नियमसे तीसरा आर्जव नामका धर्म होता है ॥४॥

जो मुनि दूसरेको क्लेश पहुंचानेवाले वचनोंको छोड़कर अपना और दूसरेका हित करनेवाले वचन कहता है, उसके चौथा सत्य धर्म होता है ॥ ५ ॥

जो परम मुनि इच्छाओंको रोककर और वैराग्यरूप विचारोंसे युक्त होकर आचरण करता है, उसके शौच धर्म होता है ॥ ६ ॥

व्रतों और समितियोंके पालनरूप, दंडत्याग अर्थात् मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके रोकनेरूप, और पांचों इंद्रियोंके जीतनेरूप परिणाम जिस जीवके होते हैं उसके संयम धर्म नियमसे होता है ॥ ७ ॥

पांचों इंद्रियोंके विषयोंको तथा चारों कषायोंको रोककर शुभ ध्यानकी प्राप्तिके लिये जो अपनी आत्माका विचार करता है, उसके नियमसे तप होता है ॥ ८ ॥

जिनेंद्र भगवानने कहा है कि जो जीव समस्त परद्रव्योंसे मोह छोड़कर संसार, देह और भोगोंसे उदासीनरूप परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म है ॥ ९ ॥

जो मुनि सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित होकर और सुखदुःख के देनेवाले (कर्मजन्य) निजभावोंको रोककर निर्द्वन्द्वतासे अर्थात् निराकुलभावसे आचरण करता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है ॥ १० ॥

जो पुण्यात्मा स्त्रियोंके सारे सुंदर अंगोंको देखकर उनमें रागरूप दुर्भाव करना छोड़ देता है, वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य धर्मको धारण करता है ॥ ११ ॥

[कुंदकुंदाचार्यकृत बारस अनुवेक्खा]

७०–८०

: ७ :

भावना

तीन भुवनके तिलक तथा तीनों भुवनोंके इन्द्रों द्वारा पूज्य देवकी वंदना करके भव्य जीवोंको आनंददायक अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करता हूं ॥१॥ १ अध्रुव, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधि-दुर्लभ और १२ धर्म, ये बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम कहे हैं। इनको समझकर नित्य प्रति मन, वचन और काय की शुद्धि सहित इनकी भावना कीजिये ॥२-३॥

१ अध्रुव भावना

जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसका नियमसे नाश होता है। परिणमन स्वरूप होनेसे कुछ भी शाश्वत नहीं है ॥४॥

जन्म मरण से सहित है, यौवन जरा सहित है, लक्ष्मी विनाश सहित है, इस प्रकार सब पदार्थ क्षणभंगुर हैं, ऐसा जानिये ॥५॥

जैसे नवीन मेघ तत्काल उदय होकर विनिष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार में परिवार, बन्धुवर्ग, पुत्र, स्त्री, भले मित्र, शरीर का लावण्य, गृह, गोधन इत्यादि समस्त पदार्थ अस्थिर हैं ॥६॥

इस जगत् में इन्द्रियों के विषय, मित्रवर्ग तथा उत्तम घोड़े, हाथी, रथ इत्यादि सब इन्द्रधनुष तथा बिजली के चमत्कारवत् चंचल हैं; वे दिखाई देकर तुरन्त नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

भव्य जीवो! तुम समस्त विषयों को क्षणभंगुर सुनकर महा मोह को छोड़ो, और अपने मनको विषयोंसे रहित करो जिससे उत्तम सुखकी प्राप्ति हो ॥८॥

२ अशरण भावना

जिस संसारमें देवोंके इन्द्रोंका भी विनाश देखा जाता है और जहां हरि (नारायण), हर (रुद्र) और ब्रह्मा आदि बड़े बड़े ईश्वर भी काल द्वारा भक्षण कर लिये गये, वहां शरण (आश्रय) कहां? ॥९॥

जैसे सिंहके पंजोंमें पड़े हरिण की कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है, उसी प्रकार इस संसारमें मृत्युसे ग्रसित प्राणी की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता ॥१०॥

जो आपको क्षमादि दशलक्षणरूप भावसे परिणत करे वही अपना आप शरण है। किंतु जो तीव्र कषायोंसे आविष्ट है वह अपने द्वारा अपना ही घात करता है ॥११॥

३ संसार भावना

जीव एक शरीरको छोड़ता है और दूसरा ग्रहण करता है। फिर नया ग्रहण कर पुनः उसे छोड़ अन्य ग्रहण करता है। ऐसे बहुतबार ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१२॥

मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत व एकान्तादि रूपसे वस्तुका श्रद्धान, तथा कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, इनसे युक्त इस जीवका अनेक देहों अर्थात् योनियोंमें भ्रमण होता है। यही संसार है ॥१३॥

इस प्रकार संसारके स्वरूपको जानकर सर्व प्रकार उद्यम कर मोहको छोड़, हे भव्य, उस आत्म-स्वभावका ध्यान कर, जिससे संसारके भ्रमणका नाश हो ॥१४॥

४ एकत्व भावना

जीव अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही गर्भमें देहको ग्रहण करता है; अकेला ही बालक व जवान होता है और अकेला ही जरा-ग्रसित वृद्ध होता है ॥१५॥

अकेला ही जीव रोगी होता है, शोक करता है तथा अकेला ही मानसिक दुःखसे तप्तायमान होता है। बेचारा अकेला ही मरता है और अकेला ही नरकके दुःख भोगता है ॥१६॥

हे भव्य! तुम सब प्रकार प्रयत्न करके जीवको शरीर से भिन्न और अकेला जान लो। जीव को इस प्रकार जान लेने पर समस्त पर-द्रव्य क्षणमात्र में हेय हो जाते हैं ॥ १७ ॥

५ अन्यत्व भावना

यह जीव एक शरीर छोड़कर कर्मानुसार दूसरा ग्रहण करता है तथा अन्य ही इसकी जननी व भार्या होती हैं और वे अन्य ही पुत्र को जन्म देते हैं ॥१८॥

इस प्रकार यह जीव सब बाह्य वस्तुओं को आत्मासे भिन्न जानता है और जानता हुआ भी उन परद्रव्योंमें ही राग करता है। यह इसकी मूर्खता है ॥१९॥

जो कोई देहको जीवके स्वरूपसे तत्त्वतः भिन्न जानकर आत्मस्वरूपका ही सेवन करता है उसकी अन्यत्व भावना कार्यकारी है ॥ २० ॥

६ अशुचि भावना

हे भव्य! तू इस देहको अपवित्र जान। यह देह समस्त कुत्सित वस्तुओंका पिंड है, कृमि-समूहोंसे भरा हुआ है, अपूर्व दुर्गन्धमय है, तथा मल-मूत्रका घर है ॥२१॥

भले पवित्र सुरस सुगंध मनोहर द्रव्य भी इस देहसे स्पर्श या उसमें प्रवेश करके अत्यंत दुर्गन्धी हो जाते हैं ॥ २२ ॥

जो भव्य परदेह अर्थात् स्त्री आदिके शरीरसे विरक्त होकर अपने देहमें भी अनुराग नहीं करता और आत्मस्वरूप में अनुरक्त होता है उसकी अशुचि भावना सार्थक है ॥ २३ ॥

७ आस्रव भावना

मन, वचन और काय योग हैं, जो जीव प्रदेशों के स्पंदन-विशेष रूप हैं वे ही आस्रव हैं, जो मोहकर्म के उदय रूप मिथ्यात्व व कषाय सहित भी होते हैं और मोह के उदय से रहित भी होते हैं ॥ २४ ॥

कर्म, पुण्य तथा पाप रूप से दो प्रकार का होता है। उसके कारण भी दो प्रकारके हैं—प्रशस्त और इतर अर्थात् अप्रशस्त। मंदकषायरूप परिणाम प्रशस्त और तीव्र कषायरूप परिणाम अप्रशस्त कर्मास्रव के कारण हैं ॥ २५ ॥

सर्वत्र शत्रु तथा मित्रसे प्यारे हितरूप वचन बोलना, और दुर्वचन सुनकर भी दुर्जन को क्षमा करना, तथा सर्व जीवोंके गुण ही ग्रहण करना, ये मंदकषायी जीवोंके उदाहरण हैं ॥ २६ ॥

अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषोंके भी दोष कहने-करनेका स्वभाव, तथा दीर्घ काल तक वैर धारण करना, ये तीव्रकषायी जीवोंके चिन्ह हैं ॥ २७ ॥

जो पुरुष पूर्वोक्त मोहके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वादिक परिणामोंको छोड़ देता है, और उपशम अर्थात् शान्त परिणाम में लीन होता है तथा इन मिथ्यात्वादिक भावोंको हेय जानता है, उसके आस्रवानुप्रेक्षा होती है ॥ २८ ॥

८ संवर भावना

सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत तथा कषायजय एवं योगों का अभाव, ये सब संवर हैं ॥ २९ ॥

मन, वचन और कायकी गुप्ति; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन, ये पांच समिति; उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म; अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा; क्षुधा आदि बाईस परीषहका जीतना; सामायिक आदि उत्कृष्ट पांच प्रकारका चारित्र; ये विशेषरूप से संवरके कारण हैं ॥ ३० ॥

जो पुरुष संवरके इन कारणोंको विचारता हुआ भी सदाचरण नहीं करता वह दुःख से तप्तायमान हुआ दीर्घ काल तक संसारमें भ्रमण करता है ॥ ३१ ॥

जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर मनोहर इन्द्रिय विषयोंसे आत्मा को सदैव संवृत्त रखते हैं उसके स्पष्ट संवर भावना है ॥३२॥

९ निर्जरा भावना

ज्ञानी और निरहंकार जीवके निदानरहित व वैराग्यभावना सहित बारह प्रकार तप करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥३३॥

समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंकी फलदायिनी शक्तिके विपाक अर्थात् उदयको ही अनुभाग कहते हैं। कर्मोंका उदयमें आकर अनन्तर ही सड़ना अर्थात् झड़ना या क्षरना होने लगता है; इसीको कर्मोंकी निर्जरा जानिये ॥३४॥

यह निर्जरा दो प्रकारकी है—एक तो स्वकाल प्राप्त और दूसरी तपस्याकृत। इनमें पहली अर्थात् स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारों ही गतियोंके जीवोंकी होती है, किन्तु दूसरी अर्थात् तपकृत निर्जरा व्रतयुक्त जीवोंकी ही होती है ॥३५॥

जो मुनि समताभावरूप सुख में लीन होकर आत्मा का स्मरण करता है तथा इन्द्रियों और कषायोंको जीत लेता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ॥३६॥

१० लोक भावना

समस्त आकाश अनन्त है। उसके ठीक मध्यमें लोक स्थित है। उसे न किसी हरि हरादि देवने बनाया है और न धारण किया है ॥३७॥

जहां जीव आदिक पदार्थ देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। उसके शिखर पर अनन्त सिद्ध विराजमान हैं ॥३८॥

लोकमें जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छह द्रव्य हैं वे समय समय परिणमन अर्थात् परिवर्तन करते रहते हैं। उन्हींके परिणमनसे लोकका भी परिणमन होता है, ऐसा जानिये ॥३९॥

इस प्रकार लोकस्वरूपका जो कोई एक मात्र उपशम भावसे ध्यान करता है, वह कर्मसमूहोंका नाश करके उसी लोकका शिखामणि अर्थात् सिद्ध हो जाता है ॥४०॥

११ बोध-दुर्लभ भावना

यह जीव अनादि कालसे अनन्तकाल तक संसारकी निगोद योनियोंमें वास करता है, जहां एक शरीरमें अनन्त जीवोंका वास पाया जाता है। वहांसे निकलकर वह पृथ्वीकायादिक पर्याय धारण करता है ॥४१॥

जिस प्रकार समुद्रमें गिरे हुए रत्नका फिर पाना अत्यंत दुर्लभ है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय प्राप्त करना महान् दुर्लभ है। उस मनुष्यगतिमें ही (शुभ) ध्यान होता है, और उसी मनुष्यगतिसे ही निर्वाण अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥४२॥

इस प्रकार इस मनुष्य गति को दुर्लभसे भी अति दुर्लभ जानकर और उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान तथा चरित्र को भी दुर्लभ से दुर्लभ समझकर दर्शन, ज्ञान, चरित्र, इन तीनों का बड़ा आदर कीजिये ॥४३॥

१२ धर्म-भावना

जो समस्त लोक-अलोक को त्रिकालगोचर समस्त गुणपर्यायोंसे संयुक्त प्रत्यक्ष जानता है वही सर्वज्ञ देव है ॥४४॥

सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म दो प्रकार का है—एक संगासक्त अर्थात् गृहस्थों का, और दूसरा असंग अर्थात् मुनियोंका। इनमें प्रथम गृहस्थका धर्म बारह भेद रूप है, और दूसरा मुनिधर्म दश भेदरूप है ॥४५॥

इन अनुप्रेक्षाओं की स्वामिकुमारने जिन-वचनोंकी भावनाके लिये तथा चंचल मनका अवरोध करनेके लिये परम श्रद्धाके साथ रचना की है ॥४६॥

इन बारह अनुप्रेक्षाओंका जिनागमके अनुसार वर्णन किया गया है। जो इनका पाठ करेगा या पाठको दूसरोंसे सुनेगा, वह परम सुख पावेगा ॥४७॥

[स्वामिकार्तिकेयकृत अनुप्रेक्षा]

: ८ :

परीषह

उत्तराध्ययन सूत्र

(सुधर्मस्वामीने जम्बूस्वामीको उपदेश दिया—)

हे जम्बू ! परीषहोंके जिस विभागका भगवान् काश्यपने वर्णन किया है, वह मैं तुम्हें क्रमसे कहता हूँ । तुम उसे ध्यानसे सुनो ॥ १ ॥

१. क्षुधा परीषह

अत्यंत उग्र भूखसे शरीरके पीड़ित होने पर भी आत्म शक्तिधारी तपस्वी भिक्षु किसी भी वनस्पति सरीखी वस्तु को न स्वयं तोड़े और न दूसरोंसे तुड़वावे; स्वयं न पकावे और न दूसरोंसे पकवावे ॥ २ ॥

शरीरके सभी अंग कौएकी टांग जैसे कृश, और धमनियों (नसों) से पूर्ण क्यों न हो जाँय, फिर भी अन्नपानकी मात्राको जाननेवाला साधु दीनता रहित मनसे गमन करे ॥ ३ ॥

२. तृषा परीषह

कड़ी प्यास लगी हो फिर भी अनाचार से भयभीत और संयम की लज्जा रखनेवाला भिक्षु ठंडा (सचित्त) पानी न पिये, किन्तु मिल सके तो अचित्त (जीव रहित उष्ण) पानीकी ही शोध करे । ॥ ४ ॥

लोगोंके आवागमनसे रहित मार्गमें यदि प्याससे बेचैन हो गया हो, मुँह सूख गया हो, तो भी साधु मनमें दैन्य भाव न लाकर उस परीषहको प्रसन्नता से सहन करे । ॥ ५ ॥

३. शीत परीषह

ग्राम ग्राम विचरनेवाले और हिंसादि व्यापारोंके पूर्ण त्यागी रूक्ष (सूखे) शरीरधारी भिक्षुको यदि कदाचित् शीत (ठंड) लगे तो वह जैनशासनके नियमोंको याद करके कालातिक्रम (व्यर्थ समय यापन) न करे । ॥ ६ ॥

शीतके निवारण योग्य स्थान नहीं है, और शरीरकी रक्षा योग्य कोई उपकरण भी नहीं है, इसलिए आगसे ताप लूँ, ऐसा विचार भिक्षुक कभी न करे । ॥ ७ ॥

४ उष्ण परीषह

परितापकी उष्णतासे, परिदाहसे अथवा ग्रीष्मकालकी गर्मीसे व्याकुल होकर साधु सुखकी परिदेवना (हाय, यह ताप कब शांत होगा ! ऐसा क्लांत वचन) न करे । ॥८॥

गर्मीसे बेचैन तत्त्वज्ञ मुनि स्नान करनेकी इच्छा भी न करे, न अपने शरीरपर पानी छिड़के और न अपने ऊपर पंखा करे ॥९॥

५ दंशमशक परीषह

वर्षाऋतुमें डांस मच्छरोंके काटनेसे मुनिको कितना भी कष्ट क्यों न हो, फिर भी वह समभाव रखे और युद्धमें सबसे आगे स्थित हाथीकी तरह, शत्रु (क्रोध) को मारे ॥१०॥

ध्यानावस्थामें (अपना) रक्त और मांस खानेवाले उन क्षुद्र जन्तुओंको साधु न त्रास दे, उनका न निवारण करे, और न उनसे थोड़ा भी द्वेष करे । उसे तो उनकी उपेक्षा ही करना चाहिये, हिंसा कदापि नहीं ॥११॥

६ अचेल परीषह

वस्त्रोंके बहुत जीर्ण हो जानेपर मैं अचेलक होऊंगा अथवा सचेलक रहूंगा, ऐसी चिन्ता साधु कभी न करे ॥१२॥

किसी अवस्यामें वस्त्र रहित हो, और किसी अवस्था में वस्त्र सहित हो, तो ये दोनों ही दशाएँ धर्मके लिए हितकारी हैं । ऐसा जानकर ज्ञानी मुनि खेद न करे ॥१३॥

७. अरति परीषह

गांव गांव में विचरनेवाले, किसी एक स्थानमें न रहनेवाले, तथा परिग्रहसे रहित मुनिको यदि कभी संयमसे अरुचि हो तो वह उसे सहन करे (मनमें अरुचिका भाव न होने दे) ॥१४॥

वैराग्यवान्, आत्मभावोंकी रक्षामें निरत, आरंभका त्यागी और क्रोधादि कषायोंसे शांत मुनि, अरतिको पीछे करके (छोड़कर) धर्मरूपी बगीचेमें विचरे ॥१५॥

८ स्त्री परीषह

इस संसारमें स्त्रियाँ, पुरुषोंकी आसक्तिका महान् कारण हैं । जिस त्यागीने इतना जान लिया उसका साधुत्व सफल हुआ ॥१६॥

इस तरह समझकर कुशल साधु स्त्रियोंके संगको कीचड़ जैसा मलिन मानकर उसमें न फंसे। आत्मविकासका मार्ग ढूंढकर संयममें ही गमन करे ॥१७॥

९ चर्या परीषह

संयमी साधु, परीषहोंको जीतकर गांवमें, नगरमें, व्यापारी बस्तीवाले प्रदेशमें अथवा राजधानीमें भी अकेला ही विचरण करे ॥१८॥

किसीके साथ समानताका भाव ग्रहण न करके भिक्षु एकाकी (रागद्वेष रहित होकर) विहार करे तथा वह किसी स्थानमें ममता न करे तथा वह गृहस्थोंसे अनासक्त रहकर किसी भी देश, काल, प्रमाणादिका नियम रखे बिना विहार न करे ॥१९॥

१० निषद्या परीषह

स्मशान, शून्य (निर्जन) घर अथवा वृक्षके मूलमें एकाकी साधु बिना शरीरकी कुचेष्टाओंके (स्थिर आसनसे) बैठे और दूसरोंको थोड़ासा भी त्रास न दे ॥२०॥

वहांपर बैठे हुए यदि उसपर उपसर्ग (किसीके द्वारा जानबूझकर दिये गये कष्ट) आवें, तो वह उन्हें दृढ़ मनसे सहन करे, किन्तु विपत्तिकी आशंकासे भयभीत होकर वह न दूसरी जगह जाय और न उठकर अन्य आसन ग्रहण करे ॥२१॥

११ शय्या परीषह

सामर्थ्यवान् तपस्वी (भिक्षु) को यदि अनुकूल अथवा प्रतिकूल शय्या मिले तो वह कालातिक्रम (कालधर्मकी मर्यादाका भंग) न करे; क्योंकि "यह स्थान अच्छा है, इसलिये यहां अधिक काल ठहरो, यह स्थान बुरा है इसलिये यहांसे जल्दी चलो" ऐसी पाप-दृष्टि रखनेवाला साधु अन्तमें आचारमें शिथिल हो जाता है ॥२२॥

प्रतिरिक्त अर्थात् शून्य व त्यक्त उपाश्रय पाकर चाहे वह अच्छा हो या बुरा "इस एक रातके उपयोगसे भला मुझे क्या दुःख पहुँच सकता है" ऐसी भावना रखकर साधु वहां निवास करे ॥२३॥

१२ आक्रोश परीषह

यदि कोई भिक्षुको आक्रोश (गालीगलौज आदि कठोर शब्द) कहे तो साधु बदलेमें कठोर शब्द न कहे, व क्रोध न करे, क्योंकि वैसा करनेसे वह भी मूर्खोंकी कोटिमें आ जायगा। इसलिये विज्ञ भिक्षु कोप न करे ॥२४॥

कठोर, भयंकर तथा श्रवण आदि इन्द्रियोंको कंटकतुल्य वाणीको सुनकर भिक्षु चुपचाप (मौन धारण करके) उसकी उपेक्षा करे, और उसको मनमें स्थान न दे ॥ २५ ॥

१३ वध परीषह

यदि कोई मारे पीटे तो भी भिक्षु मनमें क्रोध न करे, और न मारनेवालेके प्रति अल्प भी द्वेष रक्खे, किन्तु तितिक्षा अर्थात् सहनशीलताको उत्तम धर्म मानकर धर्मका ही आचरण करे ॥ २६ ॥

संयमी और दान्त (इन्द्रियोंको दमन करनेवाले) साधुको कोई कहीं मारे या वध करे, तो भी वह मनमें 'इस आत्माका तो कभी नाश नहीं होता' ऐसी भावना रखे और संयमका पालन करे ॥ २७ ॥

१४ याचना परीषह

गृहत्यागी भिक्षुका तो जीवन नित्य बड़ा ही दुष्कर होता है क्योंकि वह मांगकर ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है। उसको बिना मांगे कुछ भी प्राप्त हो नहीं सकता ॥ २८ ॥

भिक्षाके लिए गृहस्थके घर जाकर भिक्षुको अपना हाथ फैलाना पड़ता है और यह रुचिकर काम नहीं है। इसलिये साधुपनेसे गृहस्थवास ही उत्तम है— ऐसा भिक्षु कभी न सोचे ॥२९॥

१५ अलाभ परीषह

गृहस्थोंके यहां (जुदी जुदी जगह) भोजन तैयार हो उसी समय साधु भिक्षाचारीके लिये जाय। वहां भिक्षा मिले या न मिले तो भी बुद्धिमान भिक्षु खेदखिन्न न हो ॥३०॥

"आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, न सही, कल भिक्षा मिल जायगी! एक दिन न मिलनेसे क्या हुआ" जो साधु ऐसा पक्का विचार रक्खे उसे भिक्षा न मिलनेका कभी दुःख न होगा ॥३१॥

१६ रोग परीषह

वेदनासे पीड़ित भिक्षु, उत्पन्न हुए दुःखको जानकर मनमें थोड़ी सी भी दीनता न लावे, अपने चित्तको अविचलित रक्खे और तज्जन्य दुःखको समभाव से सहन करे ॥३२॥

भिक्षु औषधि (रोगके इलाज) की इच्छा न करे, किन्तु आत्मशोधक होकर शांत रहे। स्वयं चिकित्सा न करे और न करावे, इसीमें उसका सच्चा साधुत्व है ॥३३॥

१७ तृणस्पर्श परीषह

वस्त्र बिना रहने वाले तथा रुक्ष (रूखे) शरीर वाले तपस्वी साधुको तृण (दर्भ आदि) पर सोनेसे शरीरकी पीड़ा होती है, या अतिताप पड़नेसे अतुल वेदना होती है, ऐसा जानकर भी तृणोंके चुभनेसे भयभीत होकर साधु वस्त्रका सेवन नहीं करते ॥३४-३५॥

१८ मल परीषह

ग्रीष्म अथवा अन्य किसी ऋतुमें पसीना, पंक या मैलसे मलिन शरीरवाला बुद्धिमान भिक्षु सुखके लिये व्यग्र न बने (यह मैल कैसे दूर हो-ऐसी इच्छा न करे) ॥३६॥

अपने कर्मक्षयका इच्छुक भिक्षु अपने अनुपम आर्य धर्मको समझकर जबतक शरीरका नाश न हो तब तक (मृत्युपर्यंत) शरीरपर मैल धारण करे ॥३७॥

१९ सत्कार-पुरस्कार परीषह

राजादिक या श्रीमंत हमारा अभिवादन (वन्दन) करें, हमारे सन्मानार्थ सन्मुख आकर खड़े हों अथवा भोजनादिका निमन्त्रण करें—इत्यादि प्रकारकी इच्छाएं न करे तथा जो उसकी सेवा करते हैं उनसे अनुराग न करे ॥ ३८ ॥

अल्पकषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात गृहस्थोंके यहां ही गोचरी के लिये जानेवाला तथा स्वादिष्ट पक्वानों की लोलुपतासे रहित प्रज्ञावान् भिक्षु रसोंमें आसक्त न बने और न (उनके न मिलनेसे) खेद करे। अन्य किसी भिक्षु का उत्कर्ष देखकर वह ईर्ष्यालु न बने ॥ ३९ ॥

२० प्रज्ञा परीषह

"मैंने अवश्य ही अज्ञान फलवाले कर्म किये हैं जिससे यदि कोई मुझे कुछ पूछता है तो मैं कुछ समझ नहीं पाता हूँ। अथवा उसका उत्तर नहीं दे पाता ॥४०॥

परंतु अब पीछे ज्ञान फलवाले कर्मोंका उदय होगा—इस तरह कर्मके विपाकका चिन्तन कर भिक्षु ऐसे समयमें इस तरह मनको आश्वासन दे। ॥ ४१ ॥

२१ अज्ञान परीषह

"मैं व्यर्थ ही मैथुनसे निवृत्त हुआ (गृहस्थाश्रम छोड़कर ब्रह्मचर्य धारण किया) व्यर्थ ही इंद्रियोंका दमन किया क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या अकल्याणकारी, यह प्रत्यक्ष रूपमें तो कुछ दिखाई नहीं देता (अर्थात् जब धर्मका फल प्रत्यक्ष नहीं दीखता है तो मैं कष्ट क्यों सहूँ ?) ॥ ४२ ॥

(अथवा) तपश्चर्या ग्रहण करके तथा साधुकी प्रतिमाको धारण करके विचरते हुए भी मेरा अज्ञान क्यों नहीं छूटता ? ॥ ४३ ॥

इसलिये परलोक ही नहीं है, या तपस्वीकी ऋद्धि (अणिमा, गरिमा आदि) भी कोई चीज नहीं है, मैं साधुपन लेकर सचमुच ठगा गया इत्यादि प्रकारके विचार साधु मनमें कभी न लावे ॥ ४४ ॥

२२ अदर्शन परीषह

बहुतसे तीर्थंकर हो गये, हो रहे हैं और होंगे, ऐसा जो कहा जाता है यह झूठ है, ऐसा विचार भिक्षु कभी न करे ॥ ४५ ॥

इन सब परीषहोंको काश्यप भगवान् महावीरने कहा है। इनमेंसे किसी भी परीषह द्वारा कहीं भी पीड़ित होनेपर भिक्षु अपने संयमका घात न होने दे ॥ ४६ ॥

[उत्तराध्ययन सूत्र-२]

: ९ :

छह द्रव्य : सात तत्त्व : नौ पदार्थ

जिन्होंने जीव और अजीव द्रव्यका निरूपण किया है तथा जिनकी देवों और इन्द्रोंके समूह वन्दना करते हैं उन जिनेन्द्र भगवान्‌को मस्तक नवाकर नित्य वन्दना करता हूं ॥ १ ॥

जीव

जीव दर्शन और ज्ञानरूप उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्मोंका कर्त्ता है, स्वदेह परिमाण है, कर्मोंके फलका भोक्ता है, जन्म-मरणरूप संसारमें स्थित है, और सिद्ध होनेपर स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है ॥ २ ॥

जिनके भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालोंमें स्पर्शनादि पाँच इंद्रिय मन, वचन और कायरूप बल, भवधारणकी शक्तिरूप आयु और श्वासोच्छ्वासरूप आनप्राण, ये चार प्रकारके प्राण होते हैं वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीव कहलाता है। किन्तु निश्चयनयकी अपेक्षा तो जिसके चेतना है वही जीव है ॥३॥

उपयोग दो प्रकारका होता है—दर्शन और ज्ञान। दर्शनके चार भेद जानना चाहिये—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ॥ ४ ॥

ज्ञान आठ प्रकारका होता है: (१) मति अज्ञान, (२) श्रुत अज्ञान, (३) अवधि अज्ञान, (४) मति ज्ञान, (५) श्रुत ज्ञान, (६) अवधि ज्ञान, (७) मनःपर्यय ज्ञान और (८) केवल ज्ञान। ये ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारके हैं। (मति और श्रुत ज्ञान इन्द्रियों व मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण परोक्ष हैं, तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान साक्षात् आत्माकी विशुद्धिसे उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्ष कहलाते हैं।) ॥५–६॥

सफेद, पीला, नीला, लाल और काला ये पांच वर्ण; तीखा, कडुआ, कषायला, खट्टा और मीठा ये पांच रस; सुगंध और दुर्गंध ये दो रस; तथा शीत, उष्ण, चिकना, रूखा, कोमल, कठोर, हलका, भारी ये आठ स्पर्श; ये बीस अजीव मूर्तिक पदार्थोंके गुण जीवमें नहीं हैं इसलिये जीव अमूर्ति माना गया है। किन्तु व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीवमें पुद्गल कर्म-परमाणुओंका बंध होता है,

जिससे शरीर, इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति होती है, अतएव इस अपेक्षासे जीव मूर्तिमान् भी कहा जा सकता है ॥७॥

व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीव पुद्गल कर्मों आदिका कर्त्ता है, निश्चयनयकी अपेक्षासे जीव चेतनकर्मों अर्थात् चिन्तनात्मक क्रियाओंका कर्त्ता है, तथा शुद्धनयकी अपेक्षासे जीव शुद्ध भावोंका कर्त्ता है ॥८॥

जीव दो प्रकारके होते हैं : स्थावर और त्रस । पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये नाना प्रकारके एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं । तथा शंखादिक द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरेन्द्रिय व पशु पक्षी आदि पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं ॥९॥

२ अजीव

अजीव द्रव्य पांच प्रकारका जानना चाहिये—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान् होता है और उसमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्शरूप गुण पाये जाते हैं । शेष धर्मादि द्रव्य अमूर्त हैं ॥१०॥

पुद्गल

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, उद्योत, आतप ये सब पुद्गल द्रव्यके ही पर्याय हैं ॥११॥

धर्म

जिस प्रकार गमनशील मछलियोंके गमनकार्यमें जल सहायक होता है, उसी प्रकार गतिकार्यमें प्रवृत्त हुए पुद्गल और जीवकी गमनक्रियामें जो सहायक होता है वह धर्म द्रव्य है । किन्तु स्थिर रहनेवाले जीव व पुद्गलोंका वह गमन नहीं कराता ॥१२॥

अधर्म

जिस प्रकार पथिकोंके ठहरनेमें छाया कारणीभूत होती है, उसी प्रकार पुद्गल और जीव द्रव्यके स्थित होनेमें अधर्म द्रव्य सहकारी कारण है । किन्तु वह गमन करते हुए जीव व पुद्गलको रोकता नहीं ॥१३॥

आकाश

जीवादि द्रव्योंको अवकाश देनेमें समर्थ जो द्रव्य है उसे आकाश जानिये । यह आकाश दो प्रकारका है—लोकाकाश और अलोकाकाश । जितने आकाश प्रदेशमें धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये द्रव्य पाये जाते हैं वह लोक है, और उससे परे (जहां उक्त द्रव्योंका वास नहीं) वह अलोकाकाश है ॥१४॥

काल

द्रव्यके परिवर्तनरूप जो काल है, अर्थात् पदार्थोंमें नया पुराना भेद प्रकट करनेवाला जो पल, घटिका आदि काल विभाग होते हैं, वह व्यवहारकाल कहलाता है, तथा अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें सहकारी कारण होना ही जिसका लक्षण है वह परमार्थ या निश्चय काल द्रव्य है ॥ १६ ॥

लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर जो एक एक रत्नोंकी राशिके समान स्थित हैं वे कालाणु द्रव्य असंख्य हैं ॥ १७ ॥

ये द्रव्य हैं, इसलिये इन्हें जिनेन्द्र भगवान् 'अस्ति' कहते हैं, और वे कायके समान बहुप्रदेशी हैं, इसलिये वे काय कहलाते हैं। अतः जिन द्रव्योंमें यह अस्तित्व और कायत्व दोनों गुण हैं वे 'अस्तिकाय' कहलाते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्येक जीवमें असंख्य प्रदेश हैं, तथा धर्म, अधर्म व आकाशमें अनन्त प्रदेश हैं, एवं मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्यमें संख्य, असंख्य व अनन्त, तीनों प्रकारसे प्रदेश पाये जाते हैं। किन्तु काल द्रव्य एकप्रदेशात्मक ही होता है इसीलिये काल 'अकाय' कहलाता है ॥ १९ ॥

अणु एक प्रदेशी है, तथा नानाप्रकारके द्वयणुकादि स्कन्ध प्रदेशोंके भेदसे पुद्गल बहुप्रदेशी भी होता है। अतः कायके समान बहुप्रदेशोंके संचयरूप होनेसे सर्वज्ञ उसे उपचार से 'काय' कहते हैं ॥ २० ॥

अब जीव और अजीव द्रव्योंकी जो आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप रूप विशेष पर्यायें होती हैं उन्हें भी संक्षेपतः कहते हैं ॥२१॥

३ आस्रव

जीव अपने जिस परिणामके द्वारा कर्मका आस्रव करता है उसे जिन भगवान् द्वारा कहा हुआ भाव-आस्रव जानना चाहिये, तथा उन परिणामोंके निमित्तसे जो कर्म पुद्गलोंका आस्रव होता है वह दूसरा द्रव्यास्रव है ॥२२॥

पांच प्रकारका मिथ्यात्व (विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान), पांच प्रकारकी अविरति (हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह), पन्द्रह प्रकारका प्रमाद (चार विकथा-स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा; चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभका मंद उदय; पांच इंद्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र इनकी प्रवृत्ति; निद्रा और प्रणय) तीन योग (मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ) और चार कषाय (क्रोध, मान, माया लोभका तीव्र उदय) ये पूर्वोक्त भावास्रवके भेद हैं ॥२३॥

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके योग्य जो पुद्गल द्रव्यका आस्रव अर्थात् ग्रहण किया जाता है उसे द्रव्यास्रव जानना चाहिये। उसके जिनेन्द्र भगवानने अनेक भेद कहे हैं ॥२४॥

४ बंध

जिस चेतनभाव अर्थात् जीवके परिणाम द्वारा जीव कर्मबंध करता है वह भावबंध है। तथा कर्मोंके और आत्माके प्रदेशोंका जो अन्योन्य प्रवेश होता है वह द्रव्यबंध है ॥२५॥

बंध चार प्रकारका होता है: ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणुओंमें ज्ञानावरणीय आदि विविध शक्तियोंका उत्पन्न होना यह प्रकृति बन्ध है; उन परमाणुओंके जीवनप्रदेशोंके साथ रहनेकी काल-मर्यादा निश्चित होना स्थिति बन्ध है; उन कर्मोंमें हीनाधिक फलदायिनी शक्ति उत्पन्न होना अनुभाग बन्ध है; और ग्रहण किये जानेवाले परमाणुओंकी संख्याका निर्धारण प्रदेश बन्ध है। इनमें से प्रकृति और प्रदेश बन्ध मन, वचन व कायकी प्रवृत्तिरूप योगसे उत्पन्न होता है, और स्थिति तथा अनुभाग बंध क्रोध, मान, माया व लोभरूप कषायोंके उदयानुसार होते हैं ॥ २६ ॥

५ संवर

जीवनका जो चेतन-भाव कर्मोंके आस्रवको रोकनेमें हेतुभूत होता है वह भावसंवर है। तथा जो कर्मपरमाणुओंके ग्रहणकी क्रियाका अविरोध होता है वह द्रव्यसंवर है ॥ २७ ॥

पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा तथा बावीस परीषहोंका जय, ये नाना भेदरूप चारित्र भावसंवरके प्रकार जानना चाहिये ॥२८॥

६ निर्जरा

जीवके जिस चेतनभावके द्वारा कर्मपुद्गल झर जाते हैं, अर्थात् जीवप्रदेशोंसे पृथक् होजाते हैं उसे भाव निर्जरा कहते हैं, और इस पृथक् होनेकी क्रियाको द्रव्य निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा दो कारणोंसे होती है—एक तो यथाकाल अर्थात् कर्मोंकी काल-मर्यादा पूर्ण होजानेके कारण इसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। और दूसरी तप के द्वारा काल-मर्यादा पूर्ण होने से पूर्व ही। इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। यही निर्जरा आत्म-विशुद्धिमें कारणीभूत होती है ॥ २९ ॥

७ मोक्ष

जीवका जो परिणाम समस्त कर्मोंके क्षय होनेमें कारणीभूत होता है वह भावमोक्ष जानना चाहिये, तथा जीवसे कर्मप्रदेशोंके पृथक् होनेको द्रव्यमोक्ष समझना चाहिये ॥३०॥

पुण्य-पाप

शुभ भावोंसे युक्त जीव पुण्यरूप और अशुभ भावोंसे युक्त जीव पापरूप होते हैं। ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंके भेदोंमें से सातावेदनीय, शुभ अर्थात् तिर्यग्, मनुष्य और देव ये तीन आयु, सैंतीस प्रकारका शुभ नाम (जैसे मनुष्य और देव गतियां, पंचेन्द्रिय जाति, पांच शरीर, तीन अंगोपांग आदि) और शुभ अर्थात् उच्च गोत्र, ये कर्मप्रकृतियां पुण्य और शेष ज्ञानावरणीयादि समस्त प्रकृतियां पाप कहलाती हैं ॥३१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, इन्हें व्यवहारनयकी अपेक्षा मोक्षके कारण जानना चाहिये। निश्चयनयकी अपेक्षा उक्त तीनों गुणोंसे युक्त अपना आत्मा ही मोक्षका कारण है ॥३२॥

जीवको छोड़कर किसी भी अन्य द्रव्यमें सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय नहीं होते। इसीलिये उक्त तीन गुणमय आत्मा ही मोक्षका कारण है ॥३३॥

जीवादि तत्त्वोंमें श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है और यही आत्मस्वरूप अर्थात् स्वरूपाचरण सम्यक्त्व है। इसी सम्यक्त्वके होने पर जो दुरभिनिवेश, संशय, विमोह और विभ्रमसे रहित आत्म और पर अर्थात् जीव और अजीव द्रव्योंका भले प्रकार ग्रहण होता है वह साकार सम्यग्ज्ञान है, जो मति, श्रुत आदि भेद-प्रभेदों सहित अनेक प्रकारका होता है ॥३४–३५॥

अशुभ कार्योंसे निवृत्ति और शुभ कार्योंमें प्रवृत्तिको सम्यक्चारित्र कहते हैं। व्यवहारनयकी अपेक्षासे जिन भगवान्‌ने व्रत, समिति और गुप्तियोंको सम्यक् चारित्र कहा है ॥३६॥

: १० :

कर्म प्रकृति

जिनसे बंधा हुआ यह जीव संसारमें परिभ्रमण किया करता है उन आठ कर्मोंका क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ। उसे ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ १ ॥

(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय तथा (५) आयुकर्म (६) नामकर्म (७) गोत्रकर्म तथा (८) अन्तरायकर्म। इस तरह ये आठ कर्म संक्षेपमें कहे हैं ॥ २-३ ।

१ ज्ञानावरणीय कर्म-५

(१) मतिज्ञानावरणीय (२) श्रुतज्ञानावरणीय (३) अवधि ज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्यय ज्ञानावरणीय, और (५) केवल ज्ञानावरणीय, ये पांच ज्ञानावरणीयके भेद हैं ॥ ४ ॥

२ दर्शनावरणीय कर्म-९

(१) निद्रा (२) प्रचला (३) निद्रानिद्रा (४) प्रचलाप्रचला (५) स्त्यानगृद्धि (६) चक्षुदर्शनावरणीय (७) अचक्षुदर्शनावरणीय (८) अवधिदर्शनावरणीय (९) केवलदर्शनावरणीय—ये दर्शनावरणीय कर्मके ९ भेद हैं ॥५-६॥

३ वेदनीय कर्म-२

सातवेदनीय (जिसे भोगते हुए सुख उत्पन्न हो) तथा असातावेदनीय (जिसके कारण दुःख हो) ये दो भेद वेदनीय कर्मके हैं। सातवेदनीयके बहुतसे भेद हैं और असातावेदनीयके भी ॥७॥

४ मोहनीय कर्म-२५

दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय—ये दो भेद मोहनीय कर्मके हैं। दर्शन मोहनीयके तीन तथा चारित्र मोहनीयके दो उपभेद हैं ॥ ८ ॥

दर्शन मोहनीयके सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व मोहनीय, ये तीन भेद हैं ॥ ९ ॥

चारित्र मोहनीयके कषाय मोहनीय तथा नो कषाय मोहनीय ये दो भेद हैं ॥१०॥

क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायोंके प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भेदसे कषायोत्पन्न कर्म सोलह प्रकारका

है । तथा हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि, और वेदके भेदसे सात प्रकार तथा वेदके भी पुरुष, स्त्री व नपुंसक भेदसे नौ प्रकारका नोकषायोत्पन्न कर्म है ॥११॥

५ आयुकर्म–४

नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवआयु, ये चार भेद आयुकर्मके हैं ॥ १२॥

६ नामकर्म–९३

नाम कर्मके दो प्रकार हैं—शुभ, और अशुभ । इन दोनोंके भी बहुतसे उपभेद हैं ।। १३ ॥

[नाम कर्मके ब्यालीस (४२) भेद, तथा उपभेदोंकी अपेक्षासे तेरानवे (९३) भेद, इस प्रकार हैं—

१. चार गति (नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव); २. पांच जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय); ३. पांच शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण); ४. औदारिकादि पांचों शरीरके पांच बन्धन व ५. पांच संघात; ६. छह शरीरसंस्थान (समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्ड); ७. तीन शरीराङ्गोपांग (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक) ८. छह संहनन (वज्र—वृषभ-नाराच, नाराच-नाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलित और असंप्राप्तासृपाटिका); ९. पांच वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, हरित और शुक्ल); १०. दो गंध (सुगन्ध और दुर्गंध); ११. पांच रस (तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर); १२. आठ स्पर्श (कठोर, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण); १३. चार आनुपूर्वी (नरकगतियोग्य तिर्यग्गतियोग्य, मनुष्यगतियोग्य और देवगतियोग्य); १४. अगुरुलघु, १५. उपघात; १६. परघात; १७. उच्छ्वास; १८. आताप, १९. उद्योत, २०. दो विहायोगति (प्रशस्त और अप्रशस्त); २१. त्रस २२. स्थावर, २३. बादर, २४. सूक्ष्म, २५. पर्याप्त, २६. अपर्याप्त, २७. प्रत्येक शरीर, २८. साधारण शरीर, २९. स्थिर, ३०. अस्थिर, ३१. शुभ, ३२. अशुभ, ३३. सुभग, ३४. दुर्भग, ३५. सुस्वर, ३६. दुःस्वर, ३७. आदेय, ३८. अनादेय, ३९. यशःकीर्ति, ४०. अयशःकीर्ति ४१. निर्माण और ४२. तीर्थंकर ।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार तो जीवके गुणोंका घात करनेवाले होनेसे उनकी समस्त उत्तर प्रकृतियां अशुभ ही हैं ।

७ गोत्रकर्म–२

गोत्रकर्मके दो भेद हैं :—उच्च और नीच । जाति, कुल, धन, प्रभुता, रूप, बल, विद्या और तपकी श्रेष्ठताके अनुसार उच्च गोत्र आठ प्रकारका है, तथा इनकी हीनताके अनुसार नीच गोत्र भी आठ प्रकारका है ॥ १४ ॥

८ अन्तरायकर्म—५

अन्तरायकर्मके संक्षेपतः पांच भेद कहे गये हैं : दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय ॥ १५ ॥

इसप्रकार आठ कर्म और उनकी उत्तर प्रकृतियोंका वर्णन किया। अब उनके प्रदेश, क्षेत्र, काल तथा भावका वर्णन सुनियें ॥ १६॥

कर्म—प्रदेश

आठों कर्मोंके सब मिलाकर अनंत प्रदेश हैं, और उनकी संख्याका प्रमाण संसारके अभव्य जीवोंकी संख्यासे अनंत गुणा है और सिद्ध भगवानोंकी संख्याका अनन्तवां भाग है ॥ १७ ॥

कर्म—क्षेत्र

समस्त जीवोंके कर्म संपूर्ण लोककी अपेक्षासे छहों दिशाओं में सब आत्म प्रदेशोंके साथ सब तरहसे बंधते रहते हैं ॥ १८ ॥

कर्म-स्थिति

उन आठ कर्मोंमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, और अंत-राय कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी, और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी कही गई है ॥ १९—२०

मोहनीय कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ २१ ॥

आयु कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तककी है ॥ २२ ॥

नाम और गोत्र, इन दोनों कर्मोंकी जघन्य स्थिति आठ अन्तर्मुहूर्तकी है, और उत्कृष्ट आयु बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ २३ ॥

कार्मोंका अनुभाग

सब कर्मस्कंधोंके अनुभाग (परिणाम अथवा रस देनेकी शक्ति) का प्रमाण सिद्धगति प्राप्त अनंत जीवोंकी संख्याका अनन्तवां भाग है, किन्तु यदि सर्व कर्मोंके परमाणुओंकी अपेक्षासे कहें तो उनका प्रमाण यावन्मात्र जीवोंकी संख्यासे भी अधिक आता है ॥ २४ ॥

इस प्रकार इन कर्मोंके रसोंको जानकर मुमुक्षु जीव ऐसा प्रयत्न करे जिससे कर्मका बंध न हो और पूर्व में बांधे हुए कर्मोंका भी क्षय होता जाय। ७।३।५० ॥२५ ॥

[उत्तराध्ययन सूत्र—३३]

: ११ :

गुणस्थान

दर्शन मोहनीयादि कर्मोंकी उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थानुसार होनेवाले जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञ देवने उसी गुणस्थानवाला और परिणामोंको गुणस्थान कहा है ॥ १ ॥

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, ये चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं। और इनसे ऊपर सिद्ध जीव हैं ॥ २–३ ॥

[यहाँ चौथे गुणस्थानके साथ अविरतशब्द अन्त्यदीपक है, इसलिये पूर्वके तीन गुणस्थानोंमें भी अविरतभाव समझना चाहिये। तथा छट्ठे गुणस्थानके साथका विरत शब्द आदि दीपक है, इसलिये यहांसे लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं, ऐसा समझना।]

१ मिथ्यात्व

मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थके विपरीत श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पांच भेद हैं : एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ॥ ४ ॥

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्या परिणामोंका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला हो जाता है। उसको जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता, उसी प्रकार यथार्थ धर्म रुचिकर नहीं लगता ॥ ५ ॥

२ सासादन

सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूप भूमिके सम्मुख हो चुका है, अतएव जिसने सम्यक्त्वका नाश कर दिया है (किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं किया है) उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं ॥ ६ ॥

३ सम्यक् मिथ्यात्व

जिसका आत्माके गुणको सर्वथा घातनेका कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियोंसे विलक्षण जातिका है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल

सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्र-रूप परिणाम होता है उसको तीसरा मिश्रगुणस्थान कहते हैं ॥७॥

जिस प्रकार दही और गुड़को परस्पर मिला देने पर फिर उन दोनोंको पृथक् नहीं कर सकते (उस द्रव्यके प्रत्येक परमाणुका रस मिश्ररूप खट्टा और मीठा मिला हुआ होता है) उसी प्रकार मिश्र परिणामोंमें भी एक ही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥८॥

सम्यक्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव सकल संयम या देश संयमको ग्रहण नहीं करता, और न इस गुणस्थानमें आयुकर्मका बन्ध ही होता है। तथा इस गुणस्थान वाला जीव यदि मरण करता है तो नियमसे सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणामोंको प्राप्त करके ही मरण करता है, किन्तु इस गुणस्थानमें मरण नहीं होता। ॥९॥

४ अविरत-सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शनगुणको विपरीत करनेवाली प्रकृतियोंमें से देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होनेपर (तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क और मिथ्यात्व एवं मिश्र, इन सर्वघाति प्रकृतियोंके आगामी निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकोंकी बिना फल दिये ही निर्जरा होनेपर) जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको वेदक (या क्षायोपशमिक) सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल, मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही (अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट छयासठ सागर पर्यंत) कर्मोंकी निर्जरा कारण हैं ॥१०॥

तीन दर्शन मोहनीय, अर्थात् मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व, तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय, इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम, और सर्वथा क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस (चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती) सम्यग्दर्शनके साथ संयम बिलकुल ही नहीं होता; क्योंकि यहांपर दूसरे अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है। अतएव इस गुणस्थानवर्ती जीवको असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं ॥११॥

सम्यग्दृष्टि जीव आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर लेता है ॥१२।

जो इंद्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है, वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥१३॥

५ देशविरत

जो जीव जिनेंद्रदेवमें अद्वितीय श्रद्धा रखता हुआ त्रसकी हिंसासे विरत और उस ही समयमें स्थावरकी हिंसासे अविरत होता है, उस जीवको विरताविरत कहते हैं ॥१४॥

६ प्रमत्त-विरत

सकल संयमको रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होनेसे पूर्ण संयम तो हो चुका है, किन्तु उस संयमके साथ संज्वलन और नोकषायके उदयसे संयममें मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है, अतएव इस गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं ॥१५॥

चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपालकथा) चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) पांच इंद्रिय (स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह), ये पंद्रह प्रमादोंकी संख्या है ॥१६॥

७ अप्रमत्त

जिस संयतके सम्पूर्ण प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, जो पांच महाव्रतों तथा अट्ठाइस मूलगुणों एवं शीलसे मंडित है और ध्यानमें लीन है, किन्तु जो अभी कर्मोंके उपशमन या क्षपणमें प्रवृत्त नहीं हुआ अर्थात् उपशम् या क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ा, वह सातवें गुणस्थानवर्ती अप्रमत संयत है ॥१७॥

८ अपूर्वकरण

जिसका अन्तर्मूहूर्तमात्र काल है ऐसे अधःप्रवृत्तकरणको बिताकर वह सातिशय अप्रमत्त प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ अपूर्वकरण नामक अष्टमगुणस्थान पर पहुंचता है ॥ १८ ॥

इस गुणस्थानमें भिन्नसमयवर्ती जीव, भिन्न और पूर्व समयमें कभी प्राप्त नहीं हुए ऐसे अपूर्व परिणामोंको धारण करते हैं, इसलियें इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है ॥१९।

९ अनिवृत्तिकरण

अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे आदि या मध्य या अन्तके एक समयवर्ती अनेक जीवोंमें जिसप्रकार शरीरकी अवगाहना आदि बाह्यकारणोंसे तथा ज्ञानावरणादिक कर्मके क्षयोपशमादि अन्तरङ्ग कारणोंसे परस्परमें भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामोंके निमित्तसे परस्परमें भेद नहीं पाया जाता उनको

अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं। और अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिये उसके कालके प्रत्येक समयमें अनिवृत्तिकरणका एक ही परिणाम होता है। तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओंकी सहायतासे कर्मवनको भस्म कर देते हैं ॥२०-२१॥

१० सूक्ष्मसाम्पराय

जिस प्रकार धुले हुए केशरी वस्त्रमें सूक्ष्म लालिमा रह जाती है, उसी प्रकार जो अत्यन्त सूक्ष्म राग (लोभ कषाय) से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं ॥ २२ ॥

चाहे उपशमश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो, परन्तु जो जीव सूक्ष्म लोभके उदयका अनुभव कर रहा है वह दशमें गुणस्थानवर्ती जीव यथाख्यात चारित्र्यसे कुछ ही न्यून रहता है ॥२३॥

११ उपशांत मोह

निर्मली फलसे युक्त जलके समान, अथवा शरदृतुमें सरोवरके जलके समान जिसके मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणाम हो जाते हैं वह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्त कषाय होता है ॥२४॥

१२ क्षीणमोह

जिस निर्ग्रन्थका चित्त मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षीण होनेसे स्फटिकके निर्मल पात्रमें रक्खे हुए जलके समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देवने, क्षीणकषायनामक बारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है ॥२५॥

१३ सयोगकेवली

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया हो, और जिसको नव केवल लब्धियोंके (क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) प्रकट होनेसे "परमात्मा" यह संज्ञा प्राप्त हो गई है, वह इन्द्रिय आलोक आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान-दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, और काययोगसे युक्त रहनेके कारण सयोगी, (तथा घातिकर्मोंका विजेता होनेके कारण) जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगममें कहा है ॥२६-२७॥

१४ अयोग केवली

जो जीव अठारह हजार शीलोंका स्वामी हो चुका है, जिसके कर्मोंके आनेका द्वाररूप आस्रव सर्वथा बन्द हो चुका है, जिसके कर्मरूपी रजकी प्रायः निर्जरा हो चुकी है तथा जिसका काययोग भी समाप्त हो गया है, वह चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली होता है ॥२८॥

सिद्ध

जो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंसे रहित हैं, अनन्तसुखरूपी अमृतके अनुभव करनेवाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्मोंके कारण भूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्म रूपी अञ्जनसे रहित हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, और अगुरुलघु, ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, जो कृतकृत्य हैं, और लोकके अग्रभागमें निवास करनेवाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं ॥२९॥

[नेमिचन्द्राचार्यकृत जीवकाण्ड]

: १२ :

मार्गणा-स्थान

जिन भावोंके द्वारा जिन पर्यायोंमें जिस प्रकारसे जीवोंका श्रुतज्ञानमें विचार किया गया है वे तथा निर्दिष्ट चौदह मार्गणायें जानने योग्य हैं ॥१॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार, ये चौदह मार्गणा हैं ॥२॥

१ गति मार्गणा

गति नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीव की पर्यायको, अथवा चारों गतियोंमें गमन करनेके कारणको, गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं: नरकगति, तिर्यग्गति मनुष्यगति और देवगति ॥३॥

२ इन्द्रिय मार्गणा

इन्द्रियके दो भेद हैं—एक भावेन्द्रिय, दूसरी द्रव्येन्द्रिय। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि, अथवा उस विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं। और, शरीर नाम कर्मके उदयसे होनेवाले शरीरके चिह्नविशेषको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ॥४॥

जिन जीवोंके बाह्य चिह्न (द्रव्येन्द्रिय) और उसके द्वारा होनेवाला स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द, इन विषयोंका ज्ञान हो उनको क्रमसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। इनके भी अनेक अवांतर भेद हैं ॥५॥

३ काय मार्गणा

जाति नामकर्मके अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी पर्यायको जिनमतमें काय कहते हैं। इसके छह भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ॥६॥

पृथिवी, अप्, तेज (अग्नि) और वायु, इनका शरीर नियमसे अपने अपने पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे, अपने अपने योग्य रूप, रस, गन्ध व स्पर्श इन चार गुणोंसे युक्त पृथिवी आदिकमें ही बनता है ॥७॥

जो जीव दो, तीन, चार व पांच इंद्रियोंसे युक्त हैं उनको वीर भगवान्‌के उपदेशसे त्रसकाय समझना चाहिये ॥८॥

४ योग मार्गणा

पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयसे मन, वचन व कायसे युक्त जीवकी जो कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूतशक्ति है उसीको योग कहते हैं ॥ ९ ॥

सत्य, असत्य, उभय, और अनुभय, इन चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे जिस पदार्थको जानने या कहनेके लिये जीवके मन वचनकी प्रवृत्ति होती है उस समयमें मन और वचनका वही नाम होता है। और उसके सम्बन्धसे उस प्रवृत्तिका भी वही नाम होता है ॥१०॥

समीचीन भावमनको (पदार्थको जाननेकी शक्तिरूप ज्ञानको) अर्थात् समीचीन पदार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको सत्यमनोयोग कहते हैं। सत्यसे जो विपरीत है उसको मिथ्या कहते हैं। तथा सत्य और मिथ्या दोनों ही प्रकारके मनको उभय मन जानना चाहिये ॥११॥

जो न तो सत्य हो और न मृषा हो उसको असत्यमृषा मन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥१२॥

दश प्रकारके सत्य अर्थके वाचक वचनको सत्यवचन और उससे होनेवाले योगको सत्यवचनयोग कहते हैं। तथा इससे जो विपरीत है उसको मृषा और जो कुछ सत्य और कुछ मृषाका वाचक है उसको उभय वचनयोग जानिये ॥१३॥

जो न सत्यरूप हो, न मृषारूप ही हो, उसको अनुभय वचनयोग जानिये। असंज्ञियोंकी समस्त भाषा और संज्ञियोंकी आमन्त्रणी आदिक भाषा अनुभय भाषा कही जाती हैं ॥१४॥

जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य, भावसत्य और उपमासत्य, इस प्रकार सत्यके दश भेद हैं ॥१५॥

पके हुए चावलको भात कहना, रानीको देवी कहना, पाषाणादिकी प्रतिमाको चन्द्रप्रभु भगवान कहना, किसी पुरुषविशेषका नाम जिनदत्त रखना, वर्णानुसार किसी वस्तुको श्वेत कहना, आपेक्षिक लम्बाईके अनुसार दीर्घ कहना, लकड़ी लाते हुए या आग जलाते हुए मनुष्यको कहना 'यह भात पका रहा है'

ाक्यताके विचारसे कहना 'इन्द्र जम्बूद्वीपको पलट सकता है, आगमके अनुसार कसीको पापकर्मसे रोकनेके वचन कहना, पल्यकी उपमानुसार मापविशेषको पल्योपम कहना, ये उक्त दश प्रकारके जनपदादि सत्यवचनके क्रमशः दश दृष्टान्त हैं ॥१६-१७॥

आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशय-चनी, इच्छानुलोम्नी और अनक्षरगता, ये नव प्रकारकी अनुभयात्मक भाषा हैं, क्योंकि इनके सुननेवालेको व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशोंका ज्ञान होता है ॥१८-१९॥

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व तैजस नामकर्मके उदयसे होनेवाले चार शरीरोंको कर्म कहते हैं। और कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं ॥२०॥

५ वेदमार्गणा

पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे भावपुरुष, भावस्त्री व भाव नपुंसक होता है। और नामकर्मके उदयसे द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री व द्रव्यनपुंसक होता है। यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायः करके समान होता है, परन्तु कहीं विषम भी होता है। (जैसे, नपुंसक वेदका उदय नारकी व सम्मूर्छन द्रव्य नपुंसक के अतिरिक्त पुरुष शरीरी व स्त्री शरीरी जीवोंमें भी होता है) ॥२१॥

६ कषायमार्गणा

जीवके सुख दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाला होनेसे तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रका यह कर्षण करता है, इसलिये इसको कषाय कहते हैं ॥२२॥

क्रोध चार प्रकारका होता है—एक पत्थरकी रेखाके समान, दूसरा पृथ्वीकी रेखाके समान, तीसरा धूलिरेखाके समान और चौथा जलरेखाके समान। ये चारों प्रकारके क्रोध क्रमसे, नरक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न करानेवाले हैं ॥ २३ ॥

मान भी चार प्रकारका होता है—पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान, तथा बेतके समान। ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देव गतिके उत्पादक हैं ॥ २४ ॥

माया भी चार प्रकारकी होती है—बांसकी जड़के समान, मेढेके सींगके समान, गोमूत्रके समान और खुरपाके समान। यह चार प्रकारकी माया भी क्रमसे जीवको नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है ॥२५॥

लोभ कषाय भी चार प्रकारका होता है---क्रिमिरागके समान, चक्रमल (रथ आदिकके पहियोंके भीतरकी ओंगन) के समान, शरीर मलके समान, और हल्दीके समान। यह भी क्रमसे नरक, तिर्यक्, मनुष्य व देव गतिका उत्पादक है ॥ २६ ॥

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें क्रमसे क्रोध, मान, माया और लोभका उदय होता है। अथवा अनियम भी होता है ॥२७॥

७ ज्ञान मार्गणा

ज्ञानके पांच भेद हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल। इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, और केवलज्ञान क्षायिक है ॥२८॥

इंद्रिय और आनिन्द्रिय (मन) की सहायतासे अभिमुख और नियमित पदार्थका जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक कहते हैं। इसमें प्रत्येकके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये चार भेद हैं ॥२९॥

पदार्थों और इन्द्रियोंके योग्य क्षेत्रमें अवस्थानरूप संयोग होनेपर नियमसे अवग्रहरूप मतिज्ञान होता है। अवग्रहज्ञानके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थमें विशेष जाननेकी आकांक्षा रूप ईहा मतिज्ञान होता है ॥३०॥

ईहा ज्ञानके अनन्तर वस्तुके विशेष चिन्हींको देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तुका कालान्तरमें भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं ॥३१॥

मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थके आधारसे किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञान पूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक इस प्रकार, अथवा शब्दजन्य और लिङ्गजन्य इस प्रकार दो भेद हैं। इनमें मुख्य शब्दजन्य श्रुतज्ञान है ॥३२॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षासे जिसके विषयकी सीमा हो (किन्तु जो इंद्रियोंकी सहायताके विना साक्षात् आत्म-विशुद्धि द्वारा हो) उसको अवधि-ज्ञान कहते हैं। इसीलिये परमागममें इसको सीमाज्ञान कहा है। इस ज्ञानके जिनेंद्रदेवने दो भेद कहे हैं—एक भवप्रत्यय, दूसरा गुणप्रत्यय ॥३३॥

जिसका चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका चिन्तवन नहीं किया गया, अथवा वर्तमानमें जिसका आधा चिन्तवन किया है, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप

दूसरेके मनमें स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानको मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। यह मनःपर्यय ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है, बाहर नहीं ॥३४॥

जो ज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत, और लोका-लोकमें अन्धकार रहित होता है, उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥३५॥

८ संयम मार्गणा

अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य) और अपरिग्रह, इन पांच महाव्रतोंका धारण करना; ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग, इन पांच समितियोंका पालना; चार प्रकारकी कषायोंका निग्रह करना; मन वचन कायरूप दण्डका त्याग करना; तथा पांच इंद्रियोंको जीतना; इसको संयम कहते हैं ॥३६॥

९ दर्शन मार्गणा

सत्तात्मक वस्तुओंके आकारका बोध किये बिना, तथा पदार्थोंकी विशेषताओंको जाने बिना, जो आत्मावधानरूप सामान्य ग्रहण होता है उसे जैन सिद्धान्तमें दर्शन कहते हैं ॥३७॥

जो आत्मावधानं चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रकाशित होता है, या जब पदार्थ आंखों द्वारा देखा जाता है तब उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। और चक्षुके सिवाय दूसरी चार इन्द्रियोंके अथवा मनके द्वारा जो प्रकाशित होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं ॥३८॥

अवधिज्ञान होनेके पूर्व समयमें अवधिके विषयभूत परमाणुसे लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्यको जो देखता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं ॥ ३९ ॥

तीव्र, मंद व मध्यम आदि अनेक अवस्थाओंकी अपेक्षा तथा चंद्र, सूर्य आदि पदार्थोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके प्रकाश जगत्में परिमित क्षेत्रमें रहते हैं, किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है, ऐसे प्रकाश को केवल दर्शन कहते हैं ॥ ४० ॥

१० लेश्या मार्गणा

लेश्याके गुणको (स्वरूपको) जाननेवाले गणधरादि देवोंने लेश्याका स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिप्त करे, पुण्य और पापके अधीन करे, उसको लेश्या कहते हैं ॥४१॥

कषायोदयसे अनुरक्त योग प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इसलिये दोनोंका कार्य प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, इन चार प्रकारका बंध करना कहा गया है ॥४२॥

लेश्याओंके नियमसे ये छह निर्देश अर्थात् भेदोंके नाम हैं— कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ॥४३॥

अशुभ लेश्या सम्बन्धी तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र, ये तीन स्थान, तथा शुभलेश्या सम्बन्धी मन्द, मन्दतर और मन्दतम, ये तीनस्थान होते हैं, क्योंकि कृष्ण लेश्यादि छह लेश्याओंके शुभस्थानोंमें जघन्यसे उत्कृष्टपर्यन्त और अशुभ स्थानोंमें उत्कृष्टसे जघन्यपर्यन्त प्रत्येकमें षट्स्थानपतित हानिवृद्धि होती है ॥४४॥

कृष्ण आदि छह लेश्यावाले छह पथिक वनके मध्यमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोंसे पूर्ण किसी वृक्षको देखकर अपने अपने मनमें निम्न प्रकार विचार करते हैं— कृष्णलेश्यावाला विचार करता है कि मैं इस वृक्षको मूलसे उखाड़कर इसके फलोंका भक्षण करूंगा। नीललेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षको स्कन्धसे काटकर इसके फल खाऊंगा। कापोत लेश्यावाला विचार करता है कि मैं इस ‐क्षकी बड़ी बड़ी शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊंगा। पीतलेश्यावाला विचार करता है कि मैं इस वृक्षकी छोटी उपशाखाओंको काटकर इसके फलोंका खाऊंगा। पद्मलेश्या वाला विचारता है कि मैं इस वृक्षके फलोंको तोड़कर खाऊंगा। शुक्ल लेश्यावाला विचार करता है कि मैं इस वृक्षसे स्वयं टूटकर गिरे हुए फलोंको खाऊंगा। इस प्रकार जो मनपूर्वक वचन और कार्यकी प्रवृत्ति होती है वह लेश्याका कर्म है ॥४५–४६॥

तीव्र क्रोध करनेवाला हो, वैरको न छोड़े, लड़ाकू स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके भी वश न हो, ये सब कृष्ण लेश्या वालेके लक्षण हैं ॥४७॥

काम करनेमें मन्द हो, बुद्धिविहीन हो, कला–चातुर्यसे रहित हो, और स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंके विषयोंका लोलुपी हो, ये संक्षेपमें नीललेश्याके लक्षण कहे गये हैं ॥४८॥

दूसरेके ऊपर क्रोध करता है, दूसरोंकी निन्दा करता है, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दोष लगाता है स्वयं बहुत शोकाकुलित तथा भयग्रस्त होता है, कार्य अकार्यका कुछ विचार नहीं करता, ये सब कपोत लेश्या वाले के लक्षण हैं ॥४९॥

अपने कार्य व अकार्य, सेव्य या असेव्यको समझनेवाला हो, सबके विषयमें समदर्शी हो, दया और दानमें तत्पर हो, कोमल परिणामी हो, ये पीतलेश्या वालेके लक्षण हैं ॥५०॥

दानशील हो, भद्रक हो, चोखा अर्थात् विशुद्ध हो, कर्मशील हो, दूसरोंके बहुतसे अपराधोंको भी क्षमा कर दे, साधुओं और गुरुजनोंका आदर-सम्मान करनेमें युक्त रहे, ये पद्मलेश्यावाले मनुष्यके लक्षण हैं ॥५१॥

पक्षपात नहीं करता और न अपना स्वार्थ साधता है, किन्तु सब जीवोंके प्रति समताभाव रखता है तथा इष्टसे राग, अनिष्टसे द्वेष एवं कुटुम्बादिमें आसक्ति नहीं रखता, ये शुक्ललेश्या वालेके लक्षण हैं ॥५२॥

११ भव्यत्व मार्गणा

जिन जीवोंकी अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप, अनन्त चतुष्टयकी सिद्धि होनेवाली है वे भव्यसिद्ध हैं, और जो इनके विपरीत हैं अर्थात् संसारसे कभी सिद्ध होनेवाले नहीं हैं वे अभव्य हैं ॥५३॥

१२ सम्यक्त्व मार्गणा

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय व नव पदार्थ इनका जिनेन्द्र भगवान्ने जिस प्रकारसे वर्णन किया है उस ही प्रकारसे इनके श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकारसे होता है—एक तो केवल आज्ञासे अर्थात् आगम वाक्य होने मात्रसे श्रद्धान, और दूसरा अधिगमसे अर्थात् युक्ति व तर्क सहित परीक्षापूर्वक ज्ञान करके श्रद्धान ॥५४॥

दर्शन मोहनीय कर्मके क्षीण हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य अन्य कर्मोंके क्षय होनेका कारण है ॥५५॥

दर्शन मोहनीय कर्मकी सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल मलिन अगाढरूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं ॥५६॥

दर्शन मोहनीय कर्मके उपशमसे जो पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसको उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व इस तरहका निर्मल होता है जैसा कि निर्मली आदि पदार्थोंके निमित्तसे कीचड़ आदि मलके नीचे बैठ जानेपर जल निर्मल होता है ॥५७॥

जो जीव सम्यक्त्वसे तो च्युत हो गया है, किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है, उसको सासन कहते हैं। यह जीव औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावोंमेंसे पांचवें पारिणामिक भावसे युक्त होता है ॥५८॥

मिश्रामिश्रके समान जिस जीवके तत्त्वोंके विषयमें श्रद्धान और अश्रद्धान दोनों हीं उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये ॥५९॥

जो जीव जिनेंद्रदेवके कहे हुए आप्त, आगम व पदार्थका श्रद्धान नहीं करता; किन्तु कुगुरुओंके कहे हुए या विना कहे हुए भी मिथ्या पदार्थका श्रद्धान करता है, उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं ॥६०॥

१३ संज्ञा मार्गणा

नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको व तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं। और जिनके यह संज्ञा न हो, किन्तु केवल यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो, उनको असंज्ञी कहते हैं ॥६१॥

हितका ग्रहण और अहितका त्याग करानेके प्रकारको शिक्षा कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ पैर आदि अंगों के चलानेको क्रिया कहते हैं। वचन द्वारा बताये हुए वस्तु स्वरूप या कर्तव्यको उपदेश कहते हैं, और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं। जो जीव इन शिक्षादिकको मनके अवलम्बनसे ग्रहण-धारण करनेकी योग्यता रखता है, उसको संज्ञी कहते हैं। और जिस जीवों में यह योग्यता न हो उसको असंज्ञी कहते हैं ॥६२॥

जो जीव प्रवृत्ति करनेके पहले अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार करे, तथा तत्त्व और अतत्त्वका स्वरूप समझ सके, और उसका जो नाम रक्खा गया हो उस नामके द्वारा बुलानेपर आ सके, उसको समनस्क कहते हैं। और इससे जो विपरीत है उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं ॥६३॥

१४ आहार मार्गणा

शरीर नामक नामकर्मके उदयसे द्रव्यात्मक देह, वचन और मन बननेके योग्य पुद्गलकी नोकर्मवर्गणाओंका जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं ॥६४॥

विग्रहगति अर्थात् एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरका ग्रहण करनेके लिये गमनको प्राप्त होनेवाले चारों गति सम्बन्धी जीव, प्रतर अर्थात् वर्गप्रदेशानुसार और लोकपूरण अर्थात् घनप्रदेशानुसार अपने आत्मप्रदेशों द्वारा समस्त लोकको भर देने रूप समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, अयोगकेवली, और सिद्ध, ये जीव तो अनाहारक होते हैं, और इनको छोड़कर शेष समस्त जीव आहारक होते हैं ॥६५॥

[नेमिचन्द्राचार्यकृत जीवकाण्ड]

ध्यान

जैसे अभेद्य कवचसे सुरक्षित योद्धा संग्रामके अग्रभागमें युद्ध करता हुआ भी शत्रुओं द्वारा अलंध्य होता है, व प्रहरणादि क्रियामें समर्थ होकर उन वैरियोंको जीत लेता है, उसी प्रकार कर्मोंके क्षय करनेमें प्रवृत्त हुआ साधु-क्षपक धैर्यरूपी कवचसे सुसज्जित होकर परीषहरूपी शत्रुओंके लिये अलंध्य हो जाता है, तथा ध्यानमें समर्थ होकर उन वैरियोंको जीत लेता है ॥ १-२ ॥

ध्यानमें तल्लीन पुरुष सदैव राग, द्वेष, इन्द्रिय, भय व कषायोंको जीत लेता है, तथा रति, अरति व मोहका विनाश कर देता है ॥ ३ ॥

धर्मध्यान चार प्रकारका होता है और शुक्लध्यान भी चार प्रकारका होता है। ये ध्यान दुखोंको दूर करनेवाले हैं। अतएव संसारके जन्म, जरा व मरण आदि दुखोंसे भयभीत हुआ पुरुष इन दोनों ध्यानोंका अभ्यास करता है ॥४॥

अशुभध्यान

क्षुधा तृषा आदि परीषहोंसे संतापित होनेपर भी आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों में कभी प्रवृत्त न होवे, क्योंकि भले प्रकार तपश्चर्या करनेवाले साधुको भी आर्त और रौद्रध्यान नष्ट कर डालते हैं ॥५॥

१. आर्तध्यान

आर्तध्यान चार प्रकारका होता है और रौद्रध्यान भी चार प्रकारका है। संस्तर अर्थात् शैयागत क्षपक ध्यानके इन सब भेदोंको पूर्णरूपसे जान ले। अमनोज्ञ अर्थात् अनिष्ट की प्राप्तिसे, इष्टके वियोगसे, परीषह अर्थात् दुक्खकी वेदनासे एवं भोगोंकी अभिलाषासे जो कषाययुक्त भाव होता है वही संक्षेपमें चार प्रकारका आर्तध्यान कहा गया है ॥६-७॥

२. रौद्रध्यान

स्तैनिक्य अर्थात् चोरी, मृषा अर्थात् झूठ, और स्वरक्षण अर्थात् अपनी धन-सम्पत्तिकी रक्षा, इन कार्योंमें तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं द्वीन्द्रियादि त्रस इन छह कायके जीवोंका घात करनेमें जो कषाययुक्त परिणाम होते हैं वही संक्षेपसे रौद्र ध्यान कहा गया है ॥ ८ ॥

ये दोनों आर्त और रौद्रध्यान महाभयकारी तथा स्वर्गादिक सद्गतिकी प्राप्तिमें विघ्नरूप हैं, अतएव इनका अपहरण करके सदैव धर्म और शुक्ल ध्यानमें अपने चित्तकी वृत्तिको लगावे ॥ ९ ॥

शुभध्यान

स्पर्शादि इन्द्रियों, क्रोधादि कषायों व मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिरूप योगोंके निरोधकी इच्छा करता हुआ, तथा कर्मोंकी अधिकसे अधिक निर्जरा, चित्तके वशीकरण एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप सन्मार्गके अविनाशका विचार करता हुआ साधु अपनी दृष्टिको बाह्य पदार्थोंसे यथाशक्ति रोककर ध्यानमें लगावे, और संसारसे छुटकारा पानेके लिये आत्माका स्मरण करे। अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटा ले, मनकी प्रवृत्तिको इन्द्रियोंके व्यापारसे रोक ले और उसे आत्म-चिंतनमें लगा दे। इस प्रकार मन, वचन व कायकी समस्त बाह्य प्रवृत्तियोंको रोक कर उन्हें आत्मध्यानमें ही धारण करे ॥१०-१२॥

३. धर्मध्यान

उक्त प्रकारसे एकाग्र होकर मनकी चंचलताका निरोध करके चार प्रकारका धर्मध्यान करे। आज्ञा अर्थात् आगमोपदेश, अपाय अर्थात् पाप और पुण्यका विवेक, विपाक अर्थात् नाना कर्मोंका नाना प्रकार फल, एवं संस्थान अर्थात् लोक-रचनाका स्वरूप, इनका विचय अर्थात् मनसे विचार पूर्वक शोध करना, यही चार प्रकारका धर्म ध्यान है ॥१३॥

धर्मका लक्षण इस प्रकार है—आर्जव अर्थात् निष्कपट सरल भाव, लघुता अर्थात् निष्परिग्रह अथवा अल्पपरिग्रह वृत्ति, मार्दव अर्थात् आठ प्रकारके मद रहित कोमल परिणाम, उपशम अर्थात् क्रोधादि कषाय रहित शान्त भाव, तथा शास्त्रके उपदेश द्वारा अथवा स्वभावतः पदार्थोंके स्वरूप जाननेकी रुचि अर्थात् तत्त्वजिज्ञासा। धर्मके इन लक्षणोंसे युक्त मनुष्य ही धर्मध्यानका पात्र है ॥१४॥

धर्मध्यानका अवलंबन पांच प्रकारका है—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन अर्थात् पाठकी पुनरावृत्ति या आम्नाय, अनुप्रेक्षा अर्थात् प्राप्त किये हुए पदार्थ ज्ञानका अनुचिन्तन, और शास्त्रसे अविरुद्ध धर्मकथा आदि सभी बातोंका विचार ॥१५॥

पांच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, छह द्रव्य तथा अन्य पदार्थोंका स्वरूप जो आज्ञा अर्थात् शास्त्रोंके वचनों द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है यह सब 'आज्ञा-विचय' नामक धर्मध्यानमें चिन्तन करने योग्य है ॥१६॥

जैन मतानुसार कल्याणकी प्राप्तिमें उत्पन्न उपायों एवं उस प्राप्ति में होनेवाले अपायों अर्थात् विघ्न बाधाओं तथा जीवोंके शुभ और अशुभ परिणामोंका विचार करना 'अपाय-विचय' नामक धर्मध्यान है ॥१७॥

जीवोंके एक या अनेक भवोंमें पुण्य और पाप रूप कर्मोंके फलका, तथा कर्मोंकी उदय, उदीरण, संक्रमण, बन्ध व मोक्षरूप अवस्थाओंका चिन्तन 'विपाक-विचय' नामक धर्मध्यान में किया जाता है ॥१८॥

अधोलोक, तिर्यग्लोक व ऊर्ध्वलोक इन तीनों लोकोंका उनके भेदोपभेदों तथा आकारादि संस्थानका एवं उन्हींकी आनुषंगिक बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करना 'संस्थान-विचय' नामक धर्मध्यान है ॥१९॥

वे बारह अनुप्रेक्षाएं इस प्रकार हैं—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोध। इनका भी विचार संस्थान-विचय धर्मध्यानके भीतर करने योग्य है ॥२०॥

४. शुक्लध्यान

पूर्वोक्त प्रकारसे धर्मध्यान करके क्षपक जब लेश्याकी उज्ज्वलताको प्राप्त हो जाता है तब वह धर्म ध्यानका उल्लंघन कर शुक्लध्यान करना प्रारंभ करता है ॥२१॥

शुक्लध्यान चार प्रकारका है—पहला पृथक्त्व-वितर्कवीचार, दूसरा एकत्व-वितर्कवीचार, तीसरा सूक्ष्मक्रिया और चौथा समुच्छिन्नक्रिया ॥२२-२३॥

जिनका मोहनीय कर्म उपशान्त हो गया है ऐसे साधु जो अनेक द्रव्योंका अपने मन-वचन-कायरूप तीनों योगों द्वारा ध्यान करते हैं, इस कारण तो उसे पृथक्त्व कहते हैं। और चूंकि पूर्वगत श्रुतांगके अर्थ करनेमें कुशल श्रुतकेवली साधु वितर्क अर्थात् श्रुतके आधारसे विचार करते हैं, इसलिये यह ध्यान वितर्क रूप है। एवं अर्थ अर्थात् ध्येय द्रव्य या उसकी पर्याय विशेष, व्यंजन अर्थात् पदार्थको प्रकट करनेवाले वचन व योग अर्थात् मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति, इनमें संक्रम अर्थात् एकसे दूसरे पर ध्यानका परिवर्तन रूप वीचार होता है, इसलिए इस ध्यानको सूत्रमें वीचार भी कहा है। तात्पर्य यह कि जिस ध्यानमें द्रव्यसे पर्याय व पर्यायसे द्रव्य, एक श्रुतवचनसे दूसरे श्रुतवचन, एक योगसे दूसरे

योगका ध्यान परिवर्तन होता रहता है वह पृथक्त्व-वितर्क-वीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान है ॥२४-२६॥

चूंकि क्षीणकषाय साधु एक ही द्रव्य या द्रव्यपर्यायका किसी एक योग द्वारा ही ध्यान करता है, इसलिये तो एकत्व कहलाता है। और पूर्वोक्त प्रकारसे श्रुतकेवली साधु श्रुतके आधारसे विचार करता है, इसलिये वितर्क रूप है। एवं अर्थ, व्यंजन व योगोंका संक्रम नहीं होता इसलिये अवीचार है। तात्पर्य यह कि जिस ध्यानमें श्रुतचिंतन अर्थात् वितर्क तो होता है, किन्तु ध्यानका विषयभूत द्रव्य तथा चिन्तनका साधनभूत योग एक ही रहता है—उसका वीचार अर्थात् विपरिवर्तन नहीं होता—वह एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक द्वितीय शुक्ल-ध्यान है ॥२७-२९॥

जिस ध्यान में न तो वितर्क है और न वीचार, किन्तु केवल सूक्ष्म काय-योग होनेसे सूक्ष्म क्रिया मात्रका अवलंबन होता है, तथापि ध्यानका विषय समस्त द्रव्य और पर्याय एक ही समय होते हैं, वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान है ॥३०॥

वितर्करहित, वीचार रहित, क्रिया रहित, समस्तशीलोंकी पूर्णताका सहभावी, योगोंके निरोध सहित जो ध्यान होता है वह अन्तिम व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ उत्तम शुक्लध्यान है। इस अन्तिम व अप्रतिपाति अर्थात् कभी न छूटनेवाले शुक्ल-ध्यानको योगोंका निरोध तथा औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनों शरीरोंका नाश करनेवाला चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली करता है ॥३१-३२॥

इस प्रकार क्रोधादि कषायोंके साथ युद्ध करनेमें क्षपकके लिये ध्यान ही आयुध है। ध्यान-रहित क्षपक उसी प्रकार असफल होता है जैसे बिना आयुध का योद्धा ॥३३॥

जैसे रणभूमिमें रक्षाका साधन कवच है उसी प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमें ध्यान ही आत्मरक्षाका साधन है। और जिस प्रकार युद्धमें बिना कवचका योद्धा नाशको प्राप्त होता है, वैसे ही ध्यान किये बिना क्षपक अपनेको कषायोंसे बचा नहीं सकता ॥३४॥

[शिवार्यकृत भगवती आराधना]

: १४ :

स्याद्वाद

जो जीवादिक द्रव्यसमूह नाना प्रकारके भावोंसे संयुक्त कहे गये हैं, उनके स्पष्टीकरणके हेतु प्रमाण और नय के लक्षण भी बतलाये गये हैं ॥१॥

द्रव्योंके समस्त स्वभावोंमें सबसे अधिक व्यापक स्वभाव अस्तित्व है, क्योंकि सभी द्रव्योंमें 'अस्ति' अर्थात् भावात्मक सत्ता पाई जाती है और 'अस्तित्व' गुण समस्त भावात्मक पदार्थोंमें विद्यमान है ॥२॥

इस प्रकार जो द्रव्य सत्तारूप है वह प्रमाणका विषय है, अर्थात् उसकी पूरी जानकारी प्रमाण द्वारा प्राप्त होती है। इसी प्रमाण ज्ञानका एक अंश नय कहलाता है, और नयकी यह आंशिक ज्ञानात्मकता शब्दोंमें 'स्यात्' वचनके द्वारा प्रकट की जाती है ॥३॥

किसी भी द्रव्यका ज्ञान सामान्य व विशेष रूप होता है, और इन दो प्रकारके ज्ञानोंमें कोई विरोध नहीं है। पदार्थोंकी यह द्विरूपकता और उनमें अविरोध की सिद्धि सम्यक्त्व अर्थात् शुद्धदृष्टि द्वाराही हो सकती है। सम्यक्त्वसे विपरीत मिथ्यादृष्टि द्वारा यह सिद्धि नहीं हो सकती ॥४॥

यह सम्यग्दृष्टि अपेक्षा वाचक 'स्यात्' शब्दोंके द्वारा प्रकट होती है। जहां इसका प्रयोग नहीं किया जाता वहां अपेक्षा रहित एकान्तरूप वचन होनेसे मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है। अतएव सामान्य और विशेष, इन दोनोंका विषय 'स्यात्' शब्दके प्रयोग द्वारा समझना चाहिये। अर्थात् जब किसी वस्तुके विषयमें कोई विशेष बात कही जाय तब 'स्यात्' शब्दके द्वारा यह भी प्रकट कर देना उचित है कि उस वस्तुका वह स्वरूप एक अपेक्षा विशेषसे है, तथा उस वस्तुमें अन्य सामान्य गुण भी हैं ॥५॥

वस्तुके गुण-धर्म चाहे नयविषयक हों और चाहे प्रमाणविषयक, किन्तु वे होते परस्पर सापेक्ष ही हैं। अतएव सापेक्षत्व ही तत्त्व है, और निरपेक्षता उसके विपरीत अर्थात् अतत्त्व है ॥ ६ ॥

यह जो 'स्यात्' शब्द है वह निपातनसे अर्थात् बिना किसी प्रकृति-प्रत्यय विवेकके. रूढ़िसे ही वस्तुके विधि और निषेधात्मक स्वरूपको प्रकट करनेवाला माना गया है। अतएव यह शब्द वाक्यार्थमें सापेक्षताकी सिद्धि करता है ॥ ७ ॥

प्रमाण, नय व दुर्नय युक्त वस्तुके स्वरूपको प्रकट करनेवाले सात ही भंग अर्थात् वचनोंकी शैलियां होती हैं। उनमें स्यात् शब्दके प्रयोगसे परस्पर सापेक्षता स्थापित हो जाती है और वे वचन प्रमाण रूप हो जाते हैं। उनके एक एक वचन भंग नयसे अर्थात् वस्तुके किसी एक अंश-विशेषको सापेक्षरूपसे प्रकट करनेके कारण वे सब वाक्य नयरूप हैं। किन्तु जब उनमें स्यात् शब्दका अभाव होनेसे सापेक्षकता नहीं रहती और वे एकान्तवाची हो जाते हैं, तब वे दुर्नयरूप हैं॥८॥

वे सात प्रमाण-भंगियां निम्न प्रकारसे जानना चाहिये:—

१ स्याद् अस्ति।

२ स्याद् नास्ति।

३ स्याद् अस्ति-नास्ति।

४ स्याद् अवक्तव्य।

५ स्याद् अस्ति अवक्तव्य।

६ स्याद् नास्ति-अवक्तव्य।

७ स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य॥९॥

'सत्' द्रव्यका लक्षण है। अतएव प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी सत्ताकी अपेक्षासे 'अस्ति' स्वभाव है। किन्तु वही द्रव्य परद्रव्य आदिकी अपेक्षा 'नास्ति' स्वभाव है॥१०॥

जब 'स्व' और 'पर' ये दोनों नयोंकी अपेक्षा कथन किया जाय तब द्रव्य 'अस्ति-नास्ति' रूप कहा जाता है। किन्तु यदि माना जाय कि ये दोनों दृष्टियां वचनमें एक साथ ग्रहण नहीं की जा सकतीं, तो द्रव्य 'अवक्तव्य' कहा जाना चाहिये। और जब इस अवक्तव्यता पर उक्त तीनों नयों के साथ साथ दृष्टि रखना अपेक्षित हो तब 'अस्ति-अवक्तव्य', 'नास्ति-अवक्तव्य' और 'अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' ये तीन भंग उत्पन्न हो जाते हैं॥११॥

ये ही अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य तथा अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति-अव्यक्तव्य रूप वचन-भंग जब 'स्यात्' शब्दसे रहित होने के कारण नय-सापेक्ष न होकर निरपेक्ष होते हैं तब वे दुर्नयभंग अर्थात् अशुद्ध व दूषित वचनभंग कहलाते हैं॥१२॥

जब स्व, पर आदि अनेक विवक्षाओंमेंसे 'अस्ति' 'नास्ति' रूप कोई एक विवक्षा स्वीकार की जाती है, तो उसका प्रतिपक्षी स्वभाव भी तो आनुषंगिक

रूपसे उसका अनुकरण करता ही है। अतएव सब वस्तुओंके स्वभाव-कथनमें इस सापेक्षत्वको 'स्यात्' शब्दके द्वारा अवश्य साधना चाहिये ॥१३॥

धर्मी अर्थात् द्रव्य धर्मस्वभाव अर्थात् गुणात्मक—नाना गुणोंके समूहरूप-होता है। और वे अनेक धर्म अपने अपने एक एक स्वरूपसे उस द्रव्यमें रहते हुए भी परस्पर एक दूसरेसे भिन्न हैं। अतः उनको उनके गौण व मुख्य भावसे जानना चाहिये। अर्थात् जब किसी एक धर्मपर ध्यान दिया जाता है तो वही धर्म मुख्य हो जाता है और दूसरे सब धर्म गौण हो जाते हैं ॥१४॥

वस्तु-स्वरूपके कथनमें जो अनेक नयोंका अवलम्बन लिया जाता है उनमेंसे प्रत्येकमें जब स्यात् शब्द जोड़ा जाता है तभी वे नय द्रव्यके स्वभावको यथार्थ रूपसे प्रकट करते हैं। जब नय व प्रमाण शुद्ध होते हैं तभी वे युक्ति रूप होते हैं। और युक्तिके विना तत्त्वका निरूपण नहीं होता ॥१५॥

तत्त्व हेय और उपादेय दोनों प्रकार का होता है। इनमेंसे परद्रव्य तो निश्चयतः हेय ही कहा गया है। किन्तु स्वद्रव्य भी नयोंके अनुसार हेय या उपादेय जानना चाहिये ॥१६॥

एकान्त, विपरीत आदि मिथ्या ज्ञानसे युक्त तथा रागद्वेषादि वृत्तियों सहित आत्मरूप भी नियमसे त्यागने योग्य है। इससे विपरीत अर्थात् शुद्धज्ञानमय वीतराग आत्मा ध्यान करने योग्य है, ऐसा सिद्धिके अभिलाषी जीवको जानना चाहिये ॥१७॥

जिस नयके द्वारा एक वस्तुके अनेक धर्मोंमें 'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे भेदका उपचार किया जाता है वह 'व्यवहारनय' कहा गया है। तथा इसके विपरीत जिस नयमें वस्तुके असली स्वरूपपर दृष्टि रखकर अभेद स्थापित किया जाता है वह 'निश्चयनय' है ॥१८॥

निश्चयनयके अनुसार जो एकरूप और ध्येयरूप है वही व्यवहारनयके अनुसार अन्यप्रकार अर्थात् नानारूप और अध्येय कहा गया है। निश्चय नयानुसार निज आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन गुणोंके कारण सिद्धरूप ही है तथा व्यवहार नयानुसार संसारी आत्मा अपने रागादि विभावोंके कारण सिद्ध नहीं है। संसारी और सिद्ध जीव पृथक् पृथक् हैं ॥१९॥

द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक व व्यवहार ये तीन नय भूतार्थ अर्थात् वस्तु स्वरूप को प्रकट करनेवाले हैं। अन्य अनेक नय व्यवहारानुसार कहे गए हैं। किन्तु

शुद्ध रूपसे नय दो ही हैं, निश्चय और व्यवहार। तथा वस्तुके अस्तित्व द्रव्यत्व आदि उत्कृष्ट स्वरूपको बोध करानेवाला एक निश्चय नय ही है ॥२०॥

जो भाव जिस वस्तुका कहा गया है, वह प्रधानतया तो द्रव्य रूप ही है। इसलिये वही भाव ध्येय कहा गया है जो परमभावग्राही निश्चय नयका विषय है ॥२१॥

तत्त्वोंका अन्वेषण करनेके कालमें इस नय विषयक न्यायशास्त्रको युक्ति-पूर्वक समझ लेना चाहिये, क्योंकि अभ्यास कालमें वस्तुके स्वरूपका साक्षात् अनुभव नहीं होता (उसका जो कुछ ज्ञान होता है वह श्रुतके ही आधारसे होता है) ॥२२॥

वस्तुके अन्य धर्मोंकी अपेक्षा न करते हुए एकान्त रूपसे एक धर्मका ग्रहण करने मात्रसे नाना धर्मसंयुक्त द्रव्यका यथार्थ ज्ञान सिद्ध नहीं होता। यथार्थ ज्ञान तो अनेकान्त द्वारा ही होता है। अतएव 'स्यात्' शब्द द्वारा प्रकट किये जानेवाले अनेकान्तको अच्छी तरह समझ लीजिये ॥२३॥

[देवसेनकृत नयचक्र]
२४५-२६७

: १५ :

नय-वाद

इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त समस्त कर्म-मलसे विमुक्त तथा विशुद्ध केवल-ज्ञानसे संयुक्त वीर जिनेन्द्रको प्रणाम करके पश्चात् नयोंका लक्षण कहता हूँ ॥ १ ॥

नय-लक्षण

वस्तुके किसी एक अंशका बोध करानेवाला जो श्रुतभेद ज्ञानियों द्वारा विकल्प रूपसे ग्रहण किया जाता है वह यहां नय कहा गया है। इन्हीं नयों रूप ज्ञान-प्रणालियों द्वारा मनुष्य ज्ञानी बनता है ॥ २ ॥

चूंकि नय-ज्ञानके बिना मनुष्यको स्याद्वादके स्वरूपका बोध नहीं होता, इसलिये जो कोई एकान्त रूप मिथ्याज्ञानका विनाश करना चाहता है उसे नयोंका स्वरूप अवश्य जानना चाहिये ॥३॥

जिस प्रकार यदि धर्मविहीन जीव सुखकी अभिलाषा करे, या जलके न रहते हुए प्यास बुझाने की इच्छा करे, तो उसकी इच्छा कभी सफल नहीं हो सकती, उसी प्रकार यदि नयोंके ज्ञानसे रहित मूर्ख मनुष्य द्रव्योंका निश्चित ज्ञान प्राप्त करनेकी वांछा करे तो वह कदापि सफलीभूत न होगा ॥४॥

मूल नय केवल दो ही कहे गये हैं—एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय। अन्य जो अनेक अगणित नय माने गये हैं वे सब इन्हीं मुख्य दो नयोंके भेदोपभेद ही समझना चाहिये ॥५॥

उक्त द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मुख्य नय, तथा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय इस प्रकार नयोंके नौभेद हैं। एवं तीन उपनय होते हैं। ६॥

द्रव्यार्थिक नयके दश भेद हैं, पर्यायार्थिकके छह, नैगमनयके तीन तथा संग्रहनयके दो व व्यवहार एवं ऋजुसूत्रके दो दो भेद हैं। शेष सब नय एक एक ही हैं। ये नयोंके १०+६+३+२+२+२+३=२८ भेद कहे। अब उपनयोंके भेद कहते हैं ॥७–८॥

सद्भूत, असद्भूत और उपचरित, ये उपनयके तीन भेद हैं। इनमेंसे सद्भूत दो प्रकारका, असद्भूत तीन प्रकारका और उपचरित भी तीन प्रकारका होता है इस प्रकार उपनयके भेदोपभेद २+३+३=८ होते हैं ॥९॥

द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य ही होता है, पर्यायार्थिक नयका विषय द्रव्य का पर्याय होता है तथा सद्भूत उपनयका विषय दो प्रकारके पदार्थ, असद्भूत उपनयका नौ प्रकारके तथा उपचरित उपनयका विषय तीन प्रकारके पदार्थ होते हैं ॥१०॥

लौकिक विषयोंमें जो पर्यायको गौण करके द्रव्यका मुख्यतासे ग्रहण किया जाता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहा है, और इसके विपरीत अर्थात् द्रव्यको गौण करके जो पर्यायका मुख्यतासे ग्रहण किया जाता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं ॥११॥

द्रव्यार्थिक नय–१०

कर्मोंके बीचमें फँसे हुए जीवको जो सिद्ध-मुक्त जीवके समान ग्रहण करता है वह कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ॥१२॥

उत्पाद और व्ययको गौण करके जो केवल सत्ता मात्रको ग्रहण करता है वह सत्ता-ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ॥१३॥

गुण, गुणी, द्रव्य और पर्याय, इन चार प्रकारके पदार्थोंमें जो भेद नहीं करता वह भेद-विकल्पनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है ॥ १४॥

जीवके जो ज्ञान-दर्शन आदि भाव हैं उनमें रागादिक विभावोंको भी जो जीवके ही भाव कहता है वह कर्मोपाधि-सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ॥१५॥

उत्पाद और व्यय सहित सत्ताको ग्रहण करके जो द्रव्यमें एक ही समय तीनों धर्म अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वीकार करता है वह उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ॥१६॥

गुण और गुणी आदिमें परस्पर भेद रहते हुए भी जो द्रव्यमें उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करता है वह भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ॥१७॥

गुण व पर्यायरूप समस्त वस्तुस्वभावोंमें जो अन्वयरूपसे यह भी द्रव्य है, यह भी द्रव्यही है, इस प्रकार द्रव्यकी ही स्थापना करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय कहा गया है ॥ १८ ॥

जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव, इस स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्यको सत्‌रूप ग्रहण करता है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। तथा इसके विपरीत जो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव इस परचतुष्टय की अपेक्षासे द्रव्यको असत्‌रूप ग्रहण करता है वह परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ॥१९॥

जो द्रव्यके स्वभावको उसके अशुद्ध, शुद्ध व उपचार स्वरूपसे रहित केवल परम अर्थात् प्रमुख भावरूप मात्र ग्रहण करता है उसे, सिद्धिकी अभिलाषा रखनेवालेको, परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय समझना चाहिये ॥२०॥

पर्यायार्थिक नय–६

जो चन्द्र, सूर्य आदिकी पर्यायोंको अकृत्रिम अर्थात् अनादि व अनिधन अर्थात् अनन्त स्वीकार करता है उसे जिन भगवान् ने अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय कहा है ॥२१॥

कर्मोंके क्षय हो जाने पर विनाशका कारण न रहनेसे जीव अविनाशी हो जाता है, इस प्रकार जो जीवकी मुक्त पर्यायको सादि व नित्य बतलाता है वह सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है ॥२२॥

सत्ताको अमुख्य करके जो द्रव्यकी उत्पाद और व्यय अवस्थाओंको ही ग्रहण करता है और इसलिये द्रव्यको अनित्य स्वभाव बतलाता है वह अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है ॥२३॥

जो द्रव्यको एक ही काल में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, इन तीनों गुणोंसे संयुक्त मानता है वह अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है ॥२४॥

जो समस्त संसारी जीवोंकी पर्यायोंको सिद्धोंके समान शुद्ध कहता है, वह अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय है ॥२५॥

चारों गतियोंके जीवोंकी पर्यायोंको जो कर्मोंकी उपाधिके संयोगके कारण अनित्य और अशुद्ध बतलाता है वह विभाव-अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है ॥२६॥

१. नैगम नय–३

जो द्रव्य या कार्य पूर्वकालमें समाप्त हो चुका हो उसका वर्तमान कालमें होने जैसा ग्रहण करनेवाला भूत नैगम नय है। जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व हुए भगवान् महावीरके निर्वाणको निर्वाण चतुर्दशीके दिन कहना 'आज वीर भगवान्का निर्वाण हुआ है' ॥२७॥

जिस कार्यको अभी प्रारंभ ही किया है उसको लोगोंके पूछने पर पूरा हुआ कहना, जैसे भोजन बनाना प्रारंभ करने पर ही यह कहना कि 'आज भात बनाया है' यह वर्तमान नैगम नय कहलाता है ॥२८॥

जो कार्य भविष्यकालमें होनेवाला है, उसके अभी निष्पन्न नहीं होने पर भी निष्पन्न हुआ कहना, जैसे जो अभी गया नहीं है उसे गया कहना, भावि नैगम नय है ॥२९॥

२. संग्रह नय–२

भिन्न भिन्न वस्तुओंमें उनके विशेष गुण-धर्मोंके कारण भारी विरोध होनेपर भी उनके सामान्य 'सत्ता' गुणके कारण सभीको अस्तिरूप माननेवाला शुद्ध संग्रह नय है। तथा उन वस्तुओंमें अवान्तर समानताओंके आधारसे एक अलग जाति विशेषका ग्रहण करनेवाला अशुद्ध संग्रह नय है ॥३०॥

३. व्यवहार नय–२

संग्रह नयके द्वारा ग्रहण की हुई समस्त द्रव्योंकी एक जातिमें विधिवत् भेद करनेवाला, शुद्धार्थभेदक व्यवहार नय है। जैसे द्रव्यके दो भेद हैं—जीव और अजीव। तथा उन अवान्तर जातियोंमें भी उपभेद करनेवाला अशुद्धार्थभेदक व्यवहार नय है। जैसे जीवके दो भेद संसारी और मुक्त ॥३१॥

४. ऋजुसूत्र–२

ऋजुसूत्र वस्तुकी वर्तमान पर्याय मात्रको विषय करता है। उसमें जो केवल एक समयवर्ती पर्यायका ही ग्रहण करता है वह सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है; जैसे शब्द क्षणिक है। और जो द्रव्यकी परिमितकाल वर्ती स्थिति-विशेषको ग्रहण करता है वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है; जैसे मनुष्य कहनेसे मनुष्य आयुभरकी पर्यायका ग्रहण करना ॥ ३२–३३ ॥

५. शब्दनय

जो एकार्थवाची शब्दोंमें भी लिंग आदिके भेदसे अर्थभेद मानता है वह शब्द नय कहा गया है; जैसे पुष्य शब्द पुल्लिंगमें नौवें नक्षत्रका वाचक होता है और पुष्या स्त्रीलिंगमें तारिकाका बोध कराती है, इत्यादि ॥ ३४ ॥

अथवा, व्याकरणसे सिद्ध हुए शब्दमें जो अर्थका व्यवहार किया जाता है उसी अर्थको उस शब्दद्वारा विषय करना, जैसे देव शब्दके द्वारा उसका सुगृहीत अर्थ देव अर्थात् सुर ही ग्रहण करना यह शब्द नय है ॥ ३५ ॥

६. समभिरूढ़ नय

जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वाचक शब्दमें आरूढ है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द भी अपने अपने अर्थमें आरूढ़ है, अर्थात् शब्दभेदके साथ अर्थभेद

भी होता ही है, जैसे इन्द्र, पुरन्दर और शक्र यद्यपि एक ही देवोंके राजाके वाचक हैं, तथापि इन्द्र शब्द उसके ऐश्वर्यका बोध कराता है, पुरन्दरसे प्रकट होता है कि उसने अपने शत्रुके पुरोंका नाश किया था, तथा शक्र शब्द सूचित करता है वह बड़ा सामर्थ्यवान् है। इस प्रकार शब्द भेदानुसार अर्थ-भेद करनेवाला समभिरूढ़ नय है ॥३६॥

७. एवंभूत नय

जीव अपने मन, वचन व कायकी क्रिया द्वारा जो जो काम करता है, उस प्रत्येक कर्मका बोधक अलग अलग शब्द है और उसीका उस समय प्रयोग करनेवाला एवंभूत नय है। जैसे मनुष्यको पूजा करते समय ही पुजारी व युद्ध करते समय ही योद्धा कहना ॥३७॥

इन नैगम आदि नयोंमें जो प्रथम तीन द्रव्यार्थिक और शेष चार पर्यायार्थिक कहे गये हैं, उनमें प्रथम चार अर्थात् नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये अर्थप्रधान हैं, और शेष तीन शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत शब्दप्रधान हैं ॥३८॥

उपनय–३ सद्भूत उपनय–२

उपनयके तीन भेद हैं: सद्भूत, असद्भूत और उपचरित। गुण, गुणी, पर्याय व द्रव्य तथा कारक व स्वभावके भेदसे वस्तुमें नामादिके द्वारा भेद करनेवाला सद्भूत उपनय है। इसके भी दो भेद हैं: शुद्ध गुण गुणी आदिको विषय करनेवाला शुद्ध सद्भूत उपनय है। और अशुद्ध गुण गुणी आदिको विषय करनेवाला अशुद्ध सद्भूत उपनय है ॥३९॥

असद्भूत उपनय–३

पर पदार्थोंके गुणोंको आत्मगुण कहनेवाला असद्भूत उपनय है। इसके तीन भेद हैं: स्वजाति, विजाति और मिश्र। इन तीनोंमें भी प्रत्येकके पुनः तीन भेद होते हैं ॥४०॥

जब किसी वस्तुके प्रतिबिम्बको देखकर कहा जाता है कि यह वही वस्तु है तो यह द्रव्य और पर्यायमें अभेद करनेवाला स्वजाति असद्भूत उपनय है ॥४१॥

जो एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि शरीर पुद्गल कायसे सम्बन्ध रखते हैं, उन्हें जीवका स्वरूप कहना कि यह एकेन्द्रिय जीव है, इत्यादि, यह विजाति असद्भूत उपनय है ॥४२॥

जीव भी ज्ञेय है और अजीवभी ज्ञेय है, अतएव वे दोनों ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञानरूप ही हैं, इस प्रकार ज्ञानको स्वजाति जीव तथा विजाति अजीव से अभिन्न बतलानेवाला स्वजाति-विजाति या मिश्र असद्भूत उपनय है ॥४३॥

[इस प्रकार स्वजाति, विजाति व मिश्र रूपसे द्रव्यमें द्रव्यका, द्रव्यमें गुणका या द्रव्यमें पर्यायका; तथा गुणमें द्रव्यका, गुणमें गुणका व गुणमें पर्यायका; और पर्यायमें पर्यायका, इन नौ प्रकारोंका आरोप किया जा सकता है जिससे असद्भूत उपनयके सत्ताइस भेद हो जाते हैं।]

उपचरित उपनय—३

जो परस्पर दो भिन्न सत्यासत्यरूप वस्तुओंमें किसी प्रयोजन व निमित्त वश अभेदकी स्थापना करता है वह उपचरित उपनय है। इसके स्वजाति, विजाति व मिश्र रूपसे भेद होते हैं ॥४४॥

मेरे पुत्रादि बन्धुवर्ग और मैं एक ही हैं, वे मेरी सम्पत्ति रूप हैं, इत्यादि प्रकारसे स्वजातीय जीव पदार्थोंसे अभेद उत्पन्न करनेवाला स्वजाति असद्भूत उपचरित उपनय है ॥४५॥

आभरण, सुवर्ण, रत्न, तथा वस्त्रादि मेरे ही हैं, इस प्रकार सचित्तका अचित्त विजातिके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाला विजाति असद्भूत उपचरित उपनय है ॥४६॥

देश, राज्य व दुर्ग ये सब मेरे हैं, इस प्रकार जो कहता है वह देशादिके जीव-अजीव उभय-रूप होनेके कारण स्वजाति-विजाति अर्थात् मिश्र द्रव्योंसे अपना संबंध स्थापित करनेके कारण मिश्र असद्भूत उपचरित उपनयके अन्तर्गत है ॥४७॥

द्रव्य नाना प्रकारके भावोंको लिए हुए है, अतएव उसके यथार्थ ज्ञानकी सिद्धि निरपेक्ष एकान्तके द्वारा कदापि नहीं हो सकती; वह तो अनेकान्त रूप वचनके द्वारा ही हो सकती है। और वह अनेकान्त 'स्यात्' शब्दके द्वारा साधा जाता है, ऐसा जानिये ॥४८॥

जिस प्रकार रससिद्ध वैद्य सुवर्ण सिद्ध करके सुख भोगता है, उसी प्रकार योगी नयोंके स्वरूपको भले प्रकार समझकर और उनमें प्रवीण होकर चिरकाल आत्माका अनुभव करे ॥४९॥

[देवसेनकृत नयचक्र]

निक्षेप

कार्य होने पर अर्थात् व्यवहार चलानेके हेतु युक्तियोंमें सुयुक्तिमार्गानुसार जो अर्थका नामादि चार प्रकारसे आरोप किया जाता है वह न्याय शास्त्रमें निक्षेप कहलाता है ॥१॥

द्रव्यका स्वभाव नानाप्रकारका है। अतएव जिस स्वभावकी अपेक्षा हो उसीके निमित्तसे उस एक ही द्रव्यको चार भेदरूप किया जाता है ॥२॥

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, ये चार निक्षेप जानिये। किसी वस्तुका कोई नाम रखना यह नाम निक्षेप है जो दो प्रकारका प्रसिद्ध है ॥३॥

१. नाम निक्षेप

मोह कर्मका, व अज्ञानका तथा अन्तराय कर्मका विनाश करने रूप गुणानुसार अथवा पूजने योग्य होनेके कारण केवली भगवान्का 'अरिहंत' यह गुण-नाम है। अन्यथा, जो संज्ञा, वस्तुके गुणकी अपेक्षा न कर, केवल लोक व्यवहारार्थ रख ली जाती है, वह रूढ नाम होता है; जैसे घोड़ा एक प्राणिविशेष ॥४॥

२. स्थापना निक्षेप

जहां एक वस्तुका किसी अन्य वस्तुमें आरोप किया जाता है, वहां स्थापना निक्षेप होता है। वह दो प्रकारकी है—एक साकार स्थापना और दूसरी निराकार स्थापना। कृत्रिम व अकृत्रिम अरिहंतकी प्रतिमा साकार स्थापना है, तथा किसी भी अन्य पदार्थमें अरिहंतकी स्थापना करना निराकार स्थापना है ॥५॥

३. द्रव्य निक्षेप

जब वस्तुकी वर्तमान अवस्थाका उलंघन कर उसको भूतकालीन या भावि स्वरूपानुसार व्यवहार किया जाता है तब उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं। उसके दो भेद कहे गये हैं आगम और नोआगम। अरहंतके कहे हुए शास्त्रका जानकार जिस समय उस शास्त्रमें अपना उपयोग नहीं लगा रहा उस समय वह आगम द्रव्यनिक्षेप से अरहंत है। नोआगम द्रव्यनिक्षेपके तीन भेद हैं—ज्ञायक-शरीर, भावि और कर्म। जहाँ वस्तुके ज्ञाताके शरीरको उस वस्तुरूप माना जाय वहाँ ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्य निरक्षेप है—जैसे राजनीतिज्ञके मृतशरीरको देखकर कहना कि राजनीति मर गई। ज्ञायक शरीर भी भूत, वर्तमान व भविष्यकी अपेक्षा तीन प्रकारका तथा भूतज्ञायक शरीर च्युत, त्यक्त और च्यावित रूपसे पुनः

तीन प्रकारका होता है। वस्तुको जो स्वरूप भविष्यमें प्राप्त होगा उसे वर्तमानमें ही उस रूप मानना भावि नोआगम द्रव्य-निक्षेप है, जैसे युवराजको राजा मानना। तथा किसी व्यक्तिका कर्म जिस प्रकारका हो, अथवा वस्तुके संबंधमें लौकिक मान्यता जैसी हो गई हो उसके अनुसार ग्रहण करना कर्म या तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे जिस व्यक्तिमें दर्शनविशुद्धि विनय आदि तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करानेवाले लक्षण दिखाई दे उसे तीर्थंकर ही कहना, अथवा भरे कलश, दर्पण आदि पदार्थोंको लोकमान्यतानुसार मंगलीक मानना ॥६-७॥

४. भावनिक्षेप

तत्कालवर्ती पर्यायके अनुसार ही वस्तुको संबोधित करना या मानना भावनिक्षेप है। इसके भी द्रव्यनिक्षेपके समान दो भेद हैं—आगम भावनिक्षेप और नोआगम भावनिक्षेप। जैसे, अरहंत-शास्त्रका ज्ञायक जिस समय उस ज्ञानमें अपना उपयोग लगा रहा है उसी समय अरहंत है, यह आगम भाव निक्षेप है। तथा जिस समय उसमें अरहंतके समस्तगुण प्रकट हो गये हैं उस समय उसे अरहंत कहना तथा उन गुणोंसे युक्त होकर ध्यान करनेवालेको केवलज्ञानी कहना नो-आगम भाव निक्षेप है ॥ ८-९ ॥

अन्य जिन आचार्योंने द्रव्यको गुण और पर्यायवान् कहा है, उनका उन लक्षणों द्वारा कहा हुआ वस्तु-स्वरूप भी इसी प्रकार है, ऐसा जानना चाहिए॥१०॥

इन्हीं निक्षेपोंमें अपनी इष्ट बातको विभाजित करके कहना चाहिये। यह बतलानेके लिये यहां निक्षेपोंका सूत्र रूपसे व्याख्यान किया गया है॥ ११ ॥

इन निक्षेपोंका नयोंके भीतर अन्तर्भाव इस प्रकार समझना चाहिये :— नाम निक्षेपका अन्तर्भाव शब्दनयमें, स्थापना निक्षेपका स्थूल ऋजसूत्र नयमें द्रव्य निक्षेपका उपचरित उपनयमें, तथा भाव निक्षेपका पर्यायार्थिक नयमें ॥१२

जो निक्षेप, नय और प्रमाणके स्वरूपको जानकर तत्त्वका विचार करते हैं वे तथ्य और तत्त्वकी खोजके ठीक मार्गमें लगकर तथ्य और तत्त्वको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १३ ॥

यदि कोई गुण और पर्यायके लक्षण व स्वभावको तथा निक्षेप नय और प्रमाणके स्वरूपको उनके भेदोपभेदों सहित जान लेता है तो उसे द्रव्यके स्वभावका बोध हो जाता है ॥१४॥

[देवसेनकृत नयचक्र]

तत्त्व-समुच्चय का शब्द-कोष

प्रारम्भ में मोटे टाइप में हिन्दी में मूल शब्द दिया गया है, साथ ही कोष्टक वाला शब्द उसका प्राकृत रूप है। इसके बाद डैश (–) के आगे पतले टाइप में अर्थ दिया गया है। अंकों में पहला अंक अध्याय का और डैश (–) के बाद का अंक गाथा की संख्या का द्योतक है।

अ

अगति – अधर्म द्रव्य का कार्य १–४
अग्निमित्र (अग्गिमित्त) – राज्यकाल वसुमित्र सहित साठवर्ष १–७३
अचक्षु आ० (अचक्खू) – दर्शनावरण कर्म का भेद १०–६
अचक्षुदर्शन (अचक्खूदंसण) – दर्शन का एक भेद १०–६; १२–३
अचल (अचल) – दूसरे बलदेव १–५२; – छठे रुद्र १–५५
अचित्तगत (गद) – चोरी का एक भेद २–१४
अचेल परीषह – ८–१२, १३
अचेलकत्व (अच्चेलक्क) – मुनि का एक मूलगुण ५–३०
अच्युत (अच्चुद) – बारहवां स्वर्ग १–२०; – सोलहवां स्वर्ग १–२२
अजित (अजिय) – दूसरे तीर्थंकर १–४७
अजितनाभि (अजियणाभि) – नौवें रुद्र १–५५
अजितंजय – कल्की का पुत्र, असुरदेव द्वारा धर्मराज्य करने के लिए रक्षा १–७८
अजितंधर (अजियंधर) – आठवें रुद्र १–५५
अजीव (अजीवो) – १–३; ९–१०
अंजन (अंजण) – मुनि के लिए वर्ज्य ४–९
अंजना (अंजणा) – चौथी पृथ्वी का गोत्रनाम १–९
अणु – एक प्रदेश ९–२०
अणुव्रत (अणुव्वय) – पाँच प्रकारके २–३, ४

आ

इ

ए

ऐ

औ

क

द

न

प

पद्म (पउम) – ९ वें चक्रवर्ती १–५०
– नवें बलदेव १–५२
(पम्म) – लेश्या १२–५१
पद्मद्रह (पउमदह) – हिमवान पर्वत का सरोवर जहां से गंगा सिंधु नदियां निकलती हैं १–३४
पद्मप्रभ (पउमप्पह) – ६ ठे तीर्थंकर १–४७
प्रमादचरित (पमादायरिय) – अनर्थदण्ड का भेद २–२७
परजाति उपचरित नय (इयर उपचरित नय) – उपचरित नय का भेद १५–४४
परजाति असद्भूत नय (इयर असब्भूय) – १५–४०
परदार (परयार) – सातवां व्यसन ३–१०
परदार परित्याग (परदार-परिच्चाअ) – चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत २–१६
परद्रव्यादिग्राहक नय (निवरीय) – द्रव्यार्थिक नय का भेद १५–१९
परनिन्दा — भाषा भेद ५–१२
परमभावग्राही नय (परमभावगाही) – द्रव्यार्थिक नय का भेद १५–२०
परमात्मा (परमप्प) – ११–२६
परयुवतिदर्शन (परजुवइ-दंसण) – अचौर्याणुव्रत का अतिचार २–१८
परविवाहकरण (परवीवाहक्करणं) – ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार २–१७
परिग्रह–सचित्त अचित्त (पांचवां अणुव्रत) इच्छापरिमाण दूसरा नाम २–१९
परिग्रह त्याग (परिग्गह) – नवमी प्रतिमा ३–२; ३–३३
परिनिर्वृत्त (परिनिव्वुड) – सिद्ध ४–१५
परिभोगानिवृत्ति (परिभोयणिवुत्ती) – द्वितीय शिक्षाव्रत; व्रत प्रतिमा का अंग
परीषह (परीसह) – आर्तध्यान का भेद १३–७
परीषह जय (परिसह जय) – ७–३०
– भावसंवर का भेद – ९–२८
परोक्ष ज्ञान (परोक्ख-) – मति आदि ९–५
पर्यायार्थिक नय (पज्जयत्थ-) – १५–५
पाकर (पायर) – उदुम्बर विशेष – ३–९
पादत्राण (पाणहा) – मुनि के लिये वर्ज्य – ४–४
पाप (पाव) – ९–२०, २१
पापर्द्धि (पारद्धि) – शिकार, पांचवां व्यसन ३–१०
पापोपदेश (पावोवएस) – अनर्थदण्ड का भेद २–२७

फ

ब

भ

म

य

स

ह

तत्त्व-समुच्चय

ग्रन्थ-परिचय

[जिन ग्रंथोंमें से यह संकलन किया गया है उनका परिचय]

१

लोक-स्वरूप

लोक-स्वरूप सम्बंधी ये गाथाएं यतिवृषभाचार्य कृत तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में से संकलित की गई हैं। दिगम्बर जैन परम्परानुसार महावीर स्वामी के गणधर गौतम ने जो द्वादशांग की रचना की थी उनमें बारहवें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत पांच विभाग माने गये हैं: परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें से परिकर्म के पुनः पांच भेद थे: चंदपण्णत्ति, सूरपण्णत्ति, जंबूदीवपण्णत्ति, दीव-सायरपण्णत्ति और वियाहपण्णत्ति। इस प्रकार द्वादशांग में बारहवें अंग दृष्टिवाद के प्रथम भेद परिकर्म के भीतर सबसे प्राचीन जैन भूगोल व ज्योतिष का प्रतिपादन किया गया था। किन्तु यह साहित्य अब नहीं मिलता। श्वेताम्बर परम्परानुसार सूरपण्णत्ति, जम्बूदीवपण्णत्ति और चंदपण्णत्ति क्रमशः पांचवें, छठवें और सातवें उपांग माने गये हैं और ये ग्रंथ मिलते भी हैं। दिगम्बर परम्परा के उपलभ्य साहित्य में लोक के स्वरूप का व्यवस्था से पूरा वर्णन करने वाला ग्रंथ तिलोय-पण्णत्ति ही है। इस ग्रंथ में दिट्ठिवाद व परिकम्म के अतिरिक्त कुछ और भी लोकवर्णन संबंधी ग्रंथों का उल्लेख किया गया पाया जाता है जिन में एक 'लोयविभाग' भी है। यद्यपि यह प्राचीन प्राकृत 'लोय-विभाग' अब उपलभ्य नहीं है, तथापि उसका संस्कृत रूपान्तर सिंहसूरिकृत मिला है जिसमें स्पष्ट उल्लेख है कि शक संवत् ३८० में कांची नरेश सिंहवर्मा के राज्य के २२ वें वर्ष में सर्वनन्दि ने प्राकृत में जिस 'लोकविभाग' की रचना की थी उसी का सिंहसूरि ने संस्कृत रूपान्तर किया है। स्वयं तिलोय-पण्णत्ति में महावीर के निर्वाण से लेकर कल्की तक एक हजार वर्ष की राज परम्परा भी पाई जाती है। अतएव स्पष्ट है कि इस ग्रंथ की रचना १०००-५२७=४७३ ईस्वी के पश्चात् हुई है। षट्खंडागम के टीकाकार वीरसेनाचार्य ने अपनी 'धवला' टीका सन् ८१६ में समाप्त की थी और इस टीका में यतिवृषभ को 'अज्जमंखु' और 'नागहत्थि' का शिष्य कहा गया है, तथा तिलोयपण्णत्ति का अनेकबार उल्लेख किया गया है। अतएव इस ग्रंथ

की रचना का काल ४७३ और ८१६ ईस्वी के बीच मानना चाहिये। इससे अधिक सूक्ष्म काल-निर्णय करने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है। यतिवृषभ की एक और रचना पाई जाती है और वह है गुणधर आचार्य कृत 'कषाय प्राभृत' नामक सिद्धान्त ग्रंथ की 'चूर्णि' नामक टीका। इस ग्रंथ से भी कर्त्ता के समय पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

तिलोय-पण्णत्ति का प्रमाण ८००० श्लोक प्रमाण कहा गया है। बहुतायत से इसकी रचना गाथाओं में हुई है, पर कहीं कहीं प्राकृत गद्य भी पाया जाता है। कुछ प्रकरण ऐसे भी हैं जो धवलाकार के पश्चात् जोड़े गये प्रतीत होते हैं। ग्रंथ में नौ महाधिकार हैं जिन में क्रमशः लोक सामान्य, नरक, भवनवासी लोक, मनुष्य लोक, तिर्यग्लोक, व्यंतर लोक, ज्योतिर्लोक, देव लोक और सिद्धलोक का वर्णन है। इसका सम्पादन प्रथम बार डा० हीरालाल जैन और डा० उपाध्ये द्वारा हुआ है और वह दो जिल्दों में जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर द्वारा क्रमशः सन् १९४३ और १९५१ में हुआ है।

२

गृहस्थ-धर्म [१]

यह प्रकरण सावयपण्णत्ति (श्रावक-प्रज्ञप्ति) में से संकलित किया गया है। श्रावक धर्म का सबसे प्राचीन वर्णन सातवें श्रुताङ्ग 'उवासग-दसाओ' में पाया जाता है। तत्पश्चात् प्राकृत साहित्य में स्वतंत्र रूप से श्रावकाचारका वर्णन करने वाला ग्रंथ श्रावक-प्रज्ञप्ति ही है। यह ग्रंथ प्राकृत गाथा और संस्कृत टीका युक्त पाया जाता है। मूल प्राकृत गाथाओं के कर्तृत्व के सम्बंध में कुछ अनिश्चय और मतभेद है। एक मत के अनुसार प्राकृत ग्रंथ उमास्वाति कृत है और उसकी टीका हरिभद्र कृत है। किन्तु अनेक प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखों तथा भाषा व शैली आदि पर से उचित निर्णय यही जान पड़ता है कि संभवतः मूल व टीका दोनों ही हरिभद्र- कृत हैं। [प्रकाशित जैन ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई, १९०५] हरिभद्र की अनेक संस्कृत और प्राकृत रचनाएं जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं। उनकी प्राकृत धर्मकथा 'समराइच्च कहा' प्राकृत साहित्य की एक विशेष निधि है। ये कुवलयमाला के कर्ता उद्योतन सूरि के गुरु थे और उद्योतन सूरि ने अपना ग्रंथ शक ७०० में समाप्त किया था। अतएव हरिभद्र का काल इस से पूर्व सुनिश्चित है। हरिभद्र ने अपने ग्रंथों में हर्ष, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, भर्तृहरि, कुमारिल, जिनदासगणि आदि सुविख्यात ग्रंथकारों का या उनकी

रचनाओं का उल्लेख किया है या उनसे अपना परिचय व्यक्त किया है। ये सब ग्रंथकार सन् ७०० से पूर्व हो चुके हैं। अतएव हरिभद्र का काल सन् ७०० और ७७५ ईस्वी के बीच सिद्ध होता है।

श्रावक प्रज्ञप्ति में कुल ४०१ प्राकृत गाथाएं हैं जिनमें क्रमशः श्रावक के अहिंसादि बारह व्रतों का विधिवत् वर्णन किया गया है।

३

गृहस्थ-धर्म [२]

यह संकलन वसुनन्दि कृत श्रावकाचार में से किया गया है। इस ग्रंथ में ५४८ गाथाएं हैं जिन में क्रमशः श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं अर्थात् दर्जों का विस्तार से वर्णन किया गया है। ग्रंथ की अन्तिम ७ गाथाओं में कर्ता ने अपना परिचय व ग्रंथ-परिमाण का परिचय इस प्रकार दिया है—

आसी ससमय-परसमयविदू सिरिकुंदकुंदसंताणे।
भव्वयण-कुमुय-वणसिसिरयरो सिरिणंदि णामेण ॥ ५४२ ॥
कित्ती जस्सिंदुसुब्भा सयलभुवणमज्झे जहिच्छं भमित्ता
णिच्चं सा सज्जणाणं हियुयवयणसोए णिवासं करेइ।
जो सिद्धंतंबुरासिं सुणयतरणमासेज्ज लीलावतिण्णो
वण्णेउं को समत्थो सयलगुणगणं सेवियंतो वि लोए ॥ ५४३ ॥
सिस्सो तस्स जिणिंदसासणरओ सिद्धंतपारंगओ
खंती-मद्दव-लाह-वाह-दसहा धम्मम्मि णिच्चोज्जओ।
पुण्णेंदुज्जलकित्तिपूरियजओ चारित्तलच्छीहरो
संजाओ णयणंदि णाममुणिणो भव्वासयाणंदओ ॥ ५४४ ॥
सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहिवेला-तरंग-धुयमाणो।
संजाओ सयलजए विक्खाओ णेमिचंदो त्ति ॥ ५४५ ॥
तस्स पसाएण मए आयरियपरंपरागयं एयं।
वच्छल्लायरइयं भवियाणमुवासयज्झयणं ॥ ५४६ ॥
जं किं पि एत्थ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं।
खमिऊण पवयणधरा सोहित्ता तं पयासंतु ॥ ५४७ ॥
छच्च सया पण्णासुत्तराणि एयस्स गंथपरिमाणं ॥
वसुणंदिणा णिबद्धं वित्थरियव्वं वियड्ढेहिं ॥ ५४८ ॥

इस प्रशस्ति में वसुनन्दि ने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार बतलाई है:—कुन्दकुन्दाम्नाय में क्रमशः श्रीनन्दि, नयनन्दि, नेमिचन्द्र और वसुनन्दि हुए। वसुनन्दि ने यह 'उपासकाध्ययन' अपने गुरु नेमिचन्द्र के प्रसाद से, वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर भव्यों के उपकारार्थ बनाया। इसका प्रमाण ६५० श्लोकों के बराबर (एक श्लोक बत्तीस अक्षरों के बराबर मानकर) है। ग्रंथकार को यह विषय परम्परा से प्राप्त हुआ था, इसका उल्लेख गाथा ५४६ में किया गया है। ग्रंथ के प्रारम्भ की निम्न गाथा २ में कहा गया है कि विपुलाचल पर्वत पर भगवान् महावीर के मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम ने जो उपदेश श्रेणिक राजा को दिया था वही गुरुपारिपाटी से प्राप्त कर यहां कहा जाता है। सुनिये—

विउलगिरिपव्वये यं इंदभूइणा सेणियस्स जह दिट्ठं।
तह गुरुपरिवाडीए भणिज्जमाणं णिसामेह ॥२॥

इस पर से जाना जाता है कि ग्रंथकार के मन में वही सातवें श्रुतांग उपासकाध्ययन की परम्परागत धारणा थी, और उन्होंने अपने ग्रंथ का नाम भी वही रखा था। वसुनन्दि की गुरुपरम्परा में प्रकट किये गये 'नयनन्दि' व 'नेमिचंद्र नाम तो जैन साहित्य में विख्यात हैं, किन्तु उनकी उक्त परम्परा नहीं पाई जाती। इसलिये वसुनन्दि का कालनिर्देश करना कठिन है।

वसुनन्दी श्रावकाचार हिन्दी अनुवाद सहित सम्वत् १९६६ में जैन सिद्धान्त प्रचारक मण्डली, देवबन्द, की ओर से छपा था। इसके एक सुसम्पादित संस्करण की आवश्यकता थी। अभी अभी इसका पं० हीरालालजी शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से निकला है।

४

मुनि-धर्म [१]

यह अवतरण दशवैकालिक सूत्र का तीसरा अध्ययन है। दशवैकालिक श्वेताम्बर आगम का एक प्रमुख ग्रंथ है और उसकी गणना चार मूल सूत्रों में की गई है। अनुश्रुति है कि सेज्जंभव अपनी पत्नी को गर्भवती अवस्था में छोड़ कर मुनि हो गये थे। उनका पुत्र 'मनक' बड़ा होने पर अपने पिता का शिष्य बनने के लिये उनके पास गया और उसी के उपदेश के लिये यह ग्रंथ रचा गया। यह घटना महावीर निर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् की कही जाती है। इस ग्रंथ में कुल १२ अध्ययन हैं। इनमें चतुर्थ व नवम अध्ययन में गद्य के अंश भी पाये

जाते हैं, शेष सब प्राकृत पद्यमय है। मुनि की साधनाओं में शरीर संस्करण का परित्याग व भक्ष्य और अभक्ष्य का विचार एक प्रमुख स्थान रखते हैं। इस अध्ययन में यही विषय वर्णित है। [दशवैकालिक के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। डॉ. ल्यूमन द्वारा सम्पादित और अनूदित संस्करण हैमबर्ग में सन् १९३२ में छपा था।]

५

मुनि-धर्म [२]

यह संकलन वट्टकेर स्वामि कृत मूलाचार पर से किया गया है। यह ग्रंथ अति प्राचीन है, किन्तु इसका रचनाकाल अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यह ग्रंथ मुनि-धर्म के लिये सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। द्वादशांग के भीतर मुनिधर्म का वर्णन करनेवाला प्रथम श्रुतांग 'आचारांग' है जिसका दिगम्बर परम्परा में लोप हुआ माना जाता है। उसके विषय का उद्धार वर्तमान ग्रंथ द्वारा किया गया है। इसीलिये धवलाकार वीरसेन जैसे ग्रंथकार ने इस ग्रंथ का उल्लेख 'आचारांग' नाम से ही किया है।

इस ग्रंथ में कुल १२४३ प्राकृत गाथाएं हैं जिनको मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान, संक्षेपप्रत्याख्यान, सामाचार, पंचाचार, पिंडशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार, और पर्याप्ति इन बारह अधिकारों में विभाजित किया गया है। यह सब यथार्थतः मुनि के उन २८ गुणों का ही विस्तार है जो प्रथम अधिकार के भीतर संक्षेप से निर्दिष्ट और वर्णित हैं, अतः वही पूरा अधिकार मात्र यहां ले लिया गया है। [प्रकाशित अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला पुष्प १, मूल और हिन्दी अनुवाद बम्बई १९१९, तथा माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथ माला १९ और २३। दो भागों में, वसुनन्दि कृत संस्कृत टीका सहित, बम्बई वि. सं. १९७७ और १९८०]

६

धर्मांग

यह प्रकरण 'बारस अणुवेक्खा' (द्वादशानुप्रेक्षा) में से लिया गया है। इसके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य हैं, जिनकी प्राकृत रचनाओं का स्थान दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में अद्वितीय है। इस सम्प्रदाय में निम्न मंगलवाची श्लोक खूब प्रचलित है :—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्या जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

प्रस्तुत रचना के अतिरिक्त कुन्दकुन्दाचार्य के अष्ट पाहुड़ तथा प्रवचनसार पंचास्तिकाय, समयसार और नियमसार ये बारह ग्रंथ खूब प्रख्यात हैं। इनके अतिरिक्त रयणसार व दशभक्ति आदि कुछ और रचनायें भी कुन्दकुन्द कृत कही जाती हैं। किन्तु उनके कर्तृत्व के सम्बन्ध में मतभेद है। षट्खंडागम की एक परिकर्म नामक टीका भी कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचे जाने का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह रचना व उसका कोई विशेष परिचय अप्राप्य है।

षट्खंडागम की रचना वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् किसी समय हुई। और यदि कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा इस षट्खंडागम की टीका लिखे जाने की अनुश्रुति में कोई यथार्थता है तो हमें कुन्दकुन्दाचार्य का काल इससे कुछ और पश्चात् मानना पड़ेगा। निचले कालस्तर के लिये हमारे समक्ष शक ३८८ का मर्करा ताम्रपत्र है जिसमें कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है। अतः कुन्दकुन्दाचार्य का काल दूसरी और पांचवी शताब्दि के बीच अनुमान किया जा सकता है।

बारस अणुवेक्खा में ९१ प्राकृत गाथाएं हैं, जिनमें बारहवीं भावना धर्म के विवरण में प्रस्तुत दश धर्मों का वर्णन आया है जो मुनिधर्म के पालन के लिये अत्यंत आवश्यक एवं साधारणतः धार्मिक जीवन के लिये बहुत उपयोगी माना गया है। प्रसंगतः यह ध्यान देने योग्य बात है कि मनुस्मृति आदि ग्रंथों में भी धर्म के दश लक्षण बतलाये हैं। यथा

धृतिः क्षमाः दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनुस्मृति ६,९२)

इसी प्रकार बौद्ध धर्म की दश पारमिताएं हैं जिनके पालन से ही मनुष्य 'बुद्ध' हो सकता है—दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा।

यही नहीं, बाइबिल में ईसाई धर्म के प्राणस्वरूप दश आदेश दिये गये हैं जो निम्न प्रकार हैं:

1. Thou shalt not have strange Gods before me.
2. Thou shalt not take the name of the lord thy God in vain.

3. Remember thou keep holy the Sabbath Day.
4. Honour thy father and thy mother.
5. Thou shalt not kill.
6. Thou shalt not commit adultery.
7. Thou shalt not steal.
8. Thou shalt not bear false witness against thy neighbour.
9. Thou shalt not covet thy neighbour's house.
10. Thou shalt not covet thy neighbour's wife.

आश्चर्य यह नहीं है कि इन धर्मलक्षणों में परस्पर कुछ नामभेद है, आश्चर्य की बात तो यथार्थतः यह है कि धर्म के दश अंग इन सभी धर्मों में माने गये हैं और उन में असाधारण समानता है।

[बारस अणुवेक्खा, हिन्दी अनुवाद सहित, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९१०। कुन्दकुन्द और उनके ग्रंथों आदि के सविस्तर विवेचन के लिये देखो प्रवचनसार की भूमिका डा. उपाध्येकृत, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, ९। बम्बई, १९३५

७

भावना

यह संकलन स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में से किया गया है। इस ग्रंथ के कर्ता ने अन्त में अपनी रचना के सम्बंध में केवल इतना ही कहा है कि—

जिणवयणभावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेक्खाओ चंचल-मण-रुंभणट्ठं च ॥४८७॥
बारस अणुवेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४८८॥
तिहुयण-पहाणसामिं कुमारकाले वि तविय-तवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरिमतियं संथुवे णिच्चं ॥४८९॥

इन पर से हमें कर्ता के संबंध में केवल इतनी ही जानकारी प्राप्त होती है कि उनका नाम 'स्वामिकुमार' था और वे संभवतः बाल-ब्रह्मचारी थे। 'कुमार' और 'कार्तिकेय' पर्यायवाची होने से उनका नाम कार्तिकेय भी प्रसिद्ध है जो ग्रंथ के नाम में भी हमें दिखाई देता है। कुन्दकुन्द कृत बारस अणुवेक्खा और प्रस्तुत ग्रंथ का विषय व भाषा-शैली आदि में बहुत कुछ साम्य है। यदि

के मंत्री तथा श्रवणबेल्गोला में बाहुबलि की विशाल मूर्ति के प्रतिष्ठापक चामुण्ड-राय के गुरु थे। मारसिंह द्वि. की मृत्यु शिलालेखों के प्रमाण से सन् ९७५ में हुई थी। चामुण्डरायकृत पुराण में उसके पूर्ण होने का समय शक ९००=ईस्वी ९७५ अंकित है। अतः यही काल प्रायः नेमिचन्द्राचार्य का समझना चाहिये।

द्रव्यसंग्रह में कुल ५८ गाथाएं हैं जिनमें जैन तत्त्वज्ञान का बड़ी सुन्दरता से निरूपण किया गया है।

१०

कर्म प्रकृति

यह उत्तराध्ययन सूत्र का ३३ वां अध्ययन है। ग्रंथ की जानकारी के लिये ऊपर पाठ ८ का टिप्पण देखिये।

११

गुणस्थान

यह प्रकरण गोम्मटसार जीवकाण्ड में से संकलित किया गया है। ऊपर पाठ ९ के टिप्पण में द्रव्यसंग्रह के कर्ता नेमिचन्द्राचार्य का परिचय व कालनिर्णय दिया जा चुका है। वे ही आचार्य गोम्मटसार के भी कर्ता हैं। गोम्मट का अर्थ होता है सुन्दर। संभवतः उनके रूप-सौंदर्य के कारण चामुण्डराय को गोम्मटराय भी कहते थे और उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित किये जाने के कारण श्रवणबेल्गोला में बाहुबली की मूर्ति भी गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। नेमिचन्द्राचार्य ने षट्खंडागम व उसकी धवला टीका का सार ग्रहण करके गोम्मटराय की प्रेरणा से गोम्मटसार ग्रंथ की रचना की। इसके अन्तमें उन्होंने कहा है :—

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटराय-विणिम्मियदक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ॥ कर्मका. ९६८

गोम्मटसार दो भागों में विभक्त है-एक जीवकाण्ड जिसमें ७३३ गाथाओं द्वारा चौदहों गुणस्थानों और चौदहों मार्गणास्थानों का अति सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। दूसरा विभाग कर्मकाण्ड है जिसमें ९७२ गाथाओं द्वारा कर्म सिद्धान्त का अति सूक्ष्म, गहन और विशद वर्णन किया गया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) रायचंद्र जैन शास्त्रमाला बम्बई १९२७; अंग्रेजी अनुवाद सहित Sacred Books of the Jainas Series, Lacknow.

१३

ध्यान

यह प्रकरण भगवती आराधना से संकलित किया गया है। इस ग्रंथ में २१६६ गाथाएं हैं जिनमें बहुत विशदता और विस्तार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का वर्णन किया गया है। ग्रंथ का नाम यथार्थतः 'आराधना' है और भगवती उसका विशेषण, जैसा कि निम्न गाथाओं से स्पष्ट है। ग्रंथ की आदि गाथा है—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणा-फलं पत्ते।
वंदित्ता अरिहंते वुच्छं आराहणा कमसो ॥१॥

इसी प्रकार २१६२ वीं गाथा में कहा गया है—

आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥

और २१६४ वीं गाथा है—

आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती।
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥

ग्रंथ-कर्ता ने अपना परिचय गाथा २१६१–६२ में इस प्रकार दिया है—

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि—अज्जमित्तणंदीणं।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥
पुव्वायरियणिबद्धा उवजीविता इमा ससत्तीए।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥

इनसे इतनी ही बात ज्ञात होती है कि 'सिवज्ज' (शिवार्य) ने आर्य जिननन्दि गणी, सर्वगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दि से आगम पढ़कर तथा यथाशक्ति पूर्वाचार्यों द्वारा रचित एतद्विषयक ग्रंथों का आधार लेकर यह 'आराधना' ग्रंथ रचा। शिवभूति नामक एक आचार्य का उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली में पाया जाता है। आवश्यक मूलभाष्य की गाथा १४५-१४८ में भी शिवभूति का उल्लेख है और उनके द्वारा ही वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् 'बोडिक' (दिगम्बर) संघ की उत्पत्ति कही गई है कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भावपाहुड की गाथा ५३ में शिवभूति के भावविशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करने की बात कही है, तथा जिनसेन कृत हरिवंशपुराण ६६-२५ में लोहार्य (वी. नि. ६८३) के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनीश्वर का उल्लेख आया है जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्बलि पद को धारण किया था। आदिपुराण के प्रारम्भिक श्लोक ४९

में शिवकोटि मुनीश्वर और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधना के लिये हितकारी वाणी का उल्लेख है। प्रभाचन्द्र के आराधना कथा-कोष व देवचन्द्र कृत राजावली-कथे (कनाडी) में शिवकोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य बतलाया गया है। निश्चयतः तो कहना कठिन है किन्तु अनुमानतः इन सब उल्लेखों के आधारभूत आचार्य ये ही भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य हैं जो ईस्वी के दूसरी शताब्दि में या उसके लगभग हो सकते हैं। जो हो, प्रस्तुत ग्रंथ एक बहुत ही प्राचीन, सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्राकृत रचना है। एक मत यह भी है कि दिगम्बर व श्वेताम्बर के अतिरिक्त जो तीसरा जैन सम्प्रदाय 'यापनीय' नामक प्राचीन काल में प्रचलित रहा है और जो दिगम्बर सम्प्रदाय के अचेलकत्व और श्वेताम्बर सम्प्रदाय की स्त्रीमुक्ति की मान्यता को स्वीकार करता था, यह ग्रंथ उसी के साहित्य का अंग रहा है। [देखिये जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम प्रेमी कृत, पृ. २९ आदि]

[भगवती आराधना, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित, अनन्तकीर्ति ग्रंथ माला ८, बम्बई १९८९]

१४

स्याद्वाद

यह प्रकरण 'नयचक्र' से लिया गया है। यही ग्रंथकर्ता के लघुनयचक्र की अपेक्षा बड़ा होने से 'बृहत् नयचक्र भी कहलाता है। इसमें ४२३ गाथाएं हैं। ग्रंथ का अन्तिम गाथाओं में इस रचना के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं। वे गाथाएं ये हैं—

जइ इच्छइ उत्तरिदुं अण्णाणमहोवहिं सुलीलाए।
ता णादुं कुणइ मई णयचक्के दुणयतिमिरमत्तण्डे ॥४१७॥
सुणिऊण दोहरत्थं सिग्धं हसिऊण सुहंकरो भणइ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणह ॥४१८॥
सियसद्द-सुणय-दुणय-दणु-देह-विदारणेक्क-वरवीरं।
तं देवसेणदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥४२१॥
दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं।
गाहाबंधेण पुणो रइयं माइल्लधवलेण ॥४२२॥
दुसमीरणेण पोयप्पेरिय संतं जह चिरं णट्ठं।
सिरिदेवसेणमुणिणा तह णयचक्कं पुणो रइयं ॥४२३॥

इन गाथाओं में ध्यान देने योग्य बात यह कही गई है कि यह नयचक्र पहले 'दव्वसहाव-पयास' (द्रव्यस्वभाव-प्रकाश) नाम से दोहाबद्ध रचा गया था जिसे सुनकर किसी 'शुभकर' ने हंस कर कहा कि यह अर्थ दोहा छंद में शोभा नहीं देता, इसे गाथाबद्ध कीजिये। अतएव जो द्रव्यस्वभाव प्रकाश दोहकबद्ध रचा गया था उसे माइल्लदेव (माइल्लधवल भी पाठ है) ने गाथा बद्ध रचा। इस पर से ऐसा अनुमान होता है कि यह रचना पहले अपभ्रंश प्राकृत में रही होगी, क्योंकि दोहा छंद का प्रयोग पहले पहल हमें अपभ्रंश में ही दिखाई देता है। शुभकर कोई प्राचीन प्रणाली के पक्षपाती रहे होंगे जिन्होंने इस विद्वत्तापूर्ण गंभीर विवेचन के लिये अपभ्रंश जैसी सामान्य लोक भाषा को अनुपयुक्त समझा होगा। अतएव संभवतः देवसेन के कोई शिष्य (माइल्लदेव) ने उसे गाथाबद्ध करने में कर्ता को सहायता पहुंचाई होगी।

देवसेन की अनेक अन्य प्राकृत रचनाएं पाई गई हैं। उनकी दर्शनसार नामक रचना में जैन सम्प्रदाय के इतिहास के संबंध की बहुत सी वार्ता उपलभ्य है। इसी के अन्त में उन्होंने कहा है :

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥ ५० ॥

इन गाथाओं से हम जान जाते हैं कि देवसेन ने धारा नगरी में रहते हुए दर्शनसार की रचना विक्रम संवत् ९९० में पूरी की थी। उन्होंने अपनी एक अन्य रचना भावसंग्रह में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

सिरिविमलसेणगणहर-सिस्सो णामेण देवसेणुत्ति।
अबुहजण-बोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥

इसपर से देवसेन के गुरु का नाम विमलसेन गणी जाना जाता है।

[नयचक्र देवसेन की दो अन्य रचनाओं लघुनयचक्र और आलापपद्धति सहित माणिकचंद्र दिग. जैन ग्रंथमाला १६ में 'नयचक्रसंग्रह' नाम से प्रकाशित हो चुका है। बम्बई १९२०]

१५

नयवाद

यह संकलन लघु नयचक्र पर से किया गया है जो देवसेन सूरि की रचना है। इसमें कुल ८७ प्राकृत गाथाएं हैं जिन में आदितः द्रव्यार्थिक

और पर्यायार्थिक इन दो नयों को मौलिक बतलाकर उनके तथा नैगमादि नौ नयों के भेद प्रभेद उदाहरणों सहित संक्षेप में समझाये हैं। कर्ता का परिचय पूर्व पाठ के टिप्पण में दिया जा चुका है।

१६

निक्षेप

यह प्रकरण भी देवसेन कृत नयचक्र से लिया गया है जिसके लिये देखिये पाठ १४ का टिप्पण।

तत्त्व-समुच्चय का परिशिष्ट

[संकलन से सम्बद्ध गाथाएं]

कुछ गाथाएँ संकलन में छूट गई हैं। वे प्रकरणोपयोगी होने के कारण यहाँ दी जाती हैं।

पृष्ठ १२ :—

२-२२ के पश्चात् निम्न गाथा पढ़िये जिसमें दिग्व्रत के अतीचार बतलाये गये हैं—

उड्ढमहे तिरियं पि य न पमाणाइक्कमं सया कुज्जा।
तह चेव खित्तवुड्ढी कहिं वि सइअंतरद्धं च ॥ २२ क ॥ २८ ॥

इसका अर्थ (पृष्ठ ७६) अनुवाद में देखिये।

२-३० के पश्चात् निम्न गाथाएं पढ़िये जिनमें सामायिक के समय ध्यान देने योग्य विषय तथा सामायिक के पांच अतीचार वर्णित हैं —

सिक्खा दुविहा गाहा उववाय-ठिइ-गई कसाया य
बंधंता वेयंता पडिवज्जाइक्कमे पंच ॥ ३० क ॥ २९५ ॥
मण-वयण-कायदुप्पणिहाणं सामाइयम्मि वज्जिज्जा।
सइ-अकरणयं अणुवट्ठियस्स तह करणयं चेव ॥ ३० ख ॥ ३१२ ॥

सामायिक के समय निम्न विषयों में से किसी एक पर ध्यान देना योग्य है— दो प्रकार की शिक्षा अर्थात् हेय-उपादेय का विचार, किसी गाथा का अर्थ, जीवों की उत्पत्ति, स्थिति व गति का विचार, कषायों का स्वरूप, कौन जीव कौन से कर्म बांधते हैं, व कौन से कर्मों का फल अनुभव करते हैं, तथा स्वयं

सामायिक के पांच अतीचारों का स्वरूप ॥३० क॥ सामायिक में पांच अतीचार वर्जनीय हैं:- मन, वचन व काय की अनिष्ट बातों में गति; स्मृति न रखना अर्थात् चित्त की अनेकाग्रता और अनवस्था या अनादर भाव ॥३० ख॥

पृष्ठ १४ :—

२-३३ के पश्चात् देशावकाशिक व्रत के अतीचार बतलाने वाली निम्न गाथा पढ़िये—

वज्जिज्जा आणयणप्पओगपेसप्पओगयं चेव।
सद्दाणुरूववायं तह बहिया पुग्गलक्खेवं ॥३० क॥ ३२६

मर्यादा के बाहर प्रदेश से कोई वस्तु दूसरों से मंगा लेना, किसी को वहां भेजना, वहां के लिये आवाज लगाना, अपने को दिखा कर इशारे से काम करा लेना व पत्थर मिट्टी आदि फेंककर वहां के लोगों का ध्यान अपनी आवश्यकता की ओर आकर्षित करना, ये देशावकाशिक व्रती के लिये वर्जनीय हैं।

२-३८ के पश्चात् निम्न गाथा पढ़िये जिसमें अतिथि-संविभाग व्रत के अतीचार बतलाये हैं—

सच्चित्तनिक्खिवणयं वज्जे सच्चित्तपिहणयं चेव।
कालाइक्कमदाणं परववएसं च मच्छरियं ॥३८ क॥ ३२७

अतिथि के आहार योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से मिलाकर, या सचित्त से ढककर उसे आहार के अयोग्य बना देना, या आहार का समय टाल कर आहार दान देने का ढोंग करना, किसी दूसरे की यह वस्तु है या दूसरे के कारण यह अकल्प्य हुआ ऐसा बहाना बनाना तथा मात्सर्य भाव रखना, ये अतिथि-संविभाग व्रत के पांच अतीचार वर्जनीय हैं।